

## षष्ठ अध्याय

आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में चित्रित सांस्कृतिक जीवन

- i) आदिवासी समाज की मुख्य संस्कृति
- ii) संस्कृति और प्रकृति का अन्तःसंबंध
- iii) सांस्कृतिक परिवर्तन : कारण और परिणाम

## i) आदिवासी समाज की मुख्य संस्कृति

संस्कृति किसी भी समुदाय के गुणों-अवगुणों से परिचित कराता है। संस्कृति के माध्यम से मनुष्य में सोच-विचार की क्षमता में वृद्धि होती है। कुल मिलाकर संस्कृति में किसी समुदाय का अस्तित्व अंतर्निहित होता है, उस समाज की पहचान संस्कृति से अभिन्न रूप से जुड़ी होती है। संस्कृति का निर्माण अपने आप नहीं होता है और न केवल कुछ लोगों द्वारा संस्कृति निर्मित होती है। इसमें समय का महत्वपूर्ण योगदान होता है, समय और समाज के सम्मिलन से संस्कृति का विकास हुआ है। संस्कृति के माध्यम से मनुष्य अपनी पहचान को अभिव्यक्त करता है। आदिवासियों की संस्कृति वाचिक रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती आई है। आदिवासी समुदाय की अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा रही है। संस्कृति बनने की लंबी प्रक्रिया रही है। आदिवासी समाज ने संस्कृति का निर्माण प्रकृति के संरक्षण में किया है और उनकी पहचान आदिवासियत से जुड़ी हुई है। अतः उन्होंने अपनी संस्कृति को संरक्षित करने और उसे जीवित रखने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। आदिवासी संस्कृति के अनुकूल स्वयं को बनाते हुए पूरी श्रद्धा से उसका पालन करते हैं। विभिन्न पर्वो-अनुष्ठानादि के माध्यम से बोंगा को खुश करना तथा उनसे पूरे समुदाय की खुशहाली की कामना की जाती है। विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों एवं व्यवस्थाओं के द्वारा सामूहिकता, समानता, बंधुता तथा समस्त मानवीय मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश की जाती है।

नृत्य-गीत-संगीत आदिवासी संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसके बिना आदिवासी स्वयं को अधूरा मानते हैं। वह चाहे जहाँ भी रहे, नृत्य-संगीत से स्वयं को अलग नहीं रख सकता है। आदिवासियों ने सबसे पहले ध्वनि को माध्यम बनाया। सम्प्रेषण के लिए उच्चारण का इस्तेमाल हुआ। ऑरेचर यानी बोलना। उन्होंने प्रकृति के विभिन्न आवाजों को ग्रहण किया जो आगे जाकर गीत के रूप में बदल गया। यह परंपरा विकसित होकर कहानी के रूप में परिवर्तित हो गई। उन्होंने वाद्ययंत्रों का आविष्कार किया और उसका बहुतायत में प्रयोग किया। जब हवा चलती है तो बांस से आवाज आती है। वहीं से वाद्ययंत्रों का आविष्कार हुआ। ढोल,

माँदर, बनाम आदि वाद्ययंत्र इसकी देन हैं। खास बात यह है कि जो भी वाद्ययंत्र बनाए गए वह सब उस समय के भौगोलिक स्थिति के आधार पर बनाए गए। आदिवासी नृत्य के आविष्कार के पीछे तथ्य यह है कि पहाड़ी इलाकों में पैर जमाकर चलना होता है। इसलिए उनके नृत्य पदचाप (dance step) इसी प्रकार के हैं। यहाँ साथ मिलकर चलते और नाचते हैं। उन्होंने पशुओं से भी नृत्य पदचाप का अनुकरण किया और नृत्य रूप में परिवर्तित हुआ। वस्तुतः प्रकृति में जितने रंग हैं उतने आदिवासी रंग आदिवासी नृत्य में भी हैं। आदिवासी नृत्य श्रम से जुड़ा हुआ है जैसे धान नाच। आदिवासी समाज की मुख्य संस्कृति को निम्न रूपों में देखा जा सकता है।

### धुमकुड़िया

आदिवासी समुदाय में युवा प्रशिक्षण केंद्र की समृद्ध परंपरा प्राचीन काल से रही है। आदिवासी समाज की संस्कृति, परंपरा, सामाजिक आचार-विचार को पीढ़ी-दर-पीढ़ी पहुँचाना इन युवा प्रशिक्षण केंद्र का मुख्य उद्देश्य है ताकि भावी पीढ़ी अपने पूर्वजों की ज्ञान परंपरा से परिचित हो सके तथा आदिवासी समाज को बेहतर और सुदृढ़ बनाने में मदद करे। अलग-अलग समुदायों में इसे भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। उरांव समुदाय में इसे धुमकुड़िया, मुंडा समुदाय में गितिओरा, गोंड समुदाय में घोटुल, नागालैंड के अओ समुदाय में अरिचु या अरेजु, अरुणाचल प्रदेश के आदी समुदाय में मोशुप कहा जाता है। इस तरह के युवागृह गाँव के भीतर बड़े एवं खुले स्थान पर बनाये जाते हैं जहाँ लड़के-लड़कियों के रहने की एक साथ अथवा अलग-अलग व्यवस्था होती है। धुमकुड़िया को ही लें, धुमकुड़िया उरांव समुदाय के युवक-युवतियों का प्रशिक्षण केंद्र है। कुड़ुख भाषा में धुम का अर्थ उस ध्वनि से है जो नृत्य करते समय पैरों से निकलती है तथा कुड़िया वास स्थल अथवा केंद्र स्थल को प्रतिध्वनित करता है। धुमकुड़िया में लड़के-लड़कियों के रहने की व्यवस्था अलग-अलग होती है जिसे क्रमशः जौख ऐड़पा तथा पेलो ऐड़पा कहते हैं। जौख ऐड़पा का संरक्षक धांगर महतो कहलाता है और उसका एक सहायक होता है जिसे कोटवार कहा जाता है। पेलो ऐड़पा की संरक्षिका बड़की धांगरिन कहलाती है। इनकी ही

निगरानी में सीखने एवं बेहतर मनुष्य बनने की प्रक्रिया चलती है। वे अपने जीवनानुभव साझा करते हैं ताकि उनके ज्ञान में वृद्धि हो सके। धुमकुड़िया में 11 से 12 साल के बच्चे सम्मिलित होते हैं और विवाह पूर्व तक वे इसके सदस्य बने रहते हैं। कहा जाता है कि जिसने युवागृह में समय नहीं बिताया, वह समाज के समस्त आचार-विचार, शिक्षा को सीखने में असमर्थ होता है। धुमकुड़िया में युवकों को रस्सी बुनने, जाल बनाने, कृषि एवं शिकार कार्य, वाद्य यंत्र बनाने आदि का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। दूसरी ओर युवतियों को लिपाई-पुताई करने, झाड़ू बांधने, चटाई बीनने, दीवारों पर कलाकृति करने, भोजन की व्यवस्था करने आदि गृहस्थ से संबंधित चीजों का ज्ञान प्रदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त नृत्य, संगीत, पुरखा कथाएँ, मान्यताएँ, परंपरा, संस्कृति की जानकारी प्रदान करना प्रशिक्षण का एक अनिवार्य अंग है। “धुमकुड़िया मात्र युवा शयनगृह ही नहीं होते वरन् आदिवासी युवा प्रशिक्षण केंद्र भी होते हैं। यह अपने गाँव के आदिवासी युवा प्रशिक्षण केंद्र की भांति होते हैं जहाँ जंगल के भावी नागरिक सामाजिकता के पाठ सीखते हैं। सामूहिकता की भावना विकसित होती है धुमकुड़िया में।”<sup>1</sup>

वस्तुतः सामूहिकता समस्त जीवन मूल्यों का आधार है और धुमकुड़िया इस सामूहिकता का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है। धुमकुड़िया के सदस्य के रूप में युवक-युवतियों की सक्रिय भागीदारी अनिवार्य होती है। गाँव में विवाह का अवसर हो, वैवाहिक तैयारियों जैसे अतिथियों का स्वागत करना, ठहरने की उचित व्यवस्था करना, भोजन पकाना, घरों की साज-सज्जा आदि में सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। खेतों की बुवाई-कटाई, शिकार कार्य, नृत्य-संगीत आदि सभी कार्य एक टीम के रूप में करते हैं। इस प्रकार धुमकुड़िया में समाज एवं संस्कृति के साथ-साथ नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का प्रशिक्षण दिया जाता है ताकि आने वाली पीढ़ी उन मूल्यों एवं आदर्शों की संवाहक बन सके। बाहरी संस्कृति के प्रभाव से उनकी प्रशिक्षण प्रणाली विलुप्त प्रायः होती जा रही है, किन्तु परिवर्तित रूप में यह परंपरा आज भी जीवित है। “दीकू लोगों के जंगल में प्रवेश के बाद जंगल समाज में उत्पन्न असुरक्षा बोध ने भी विभिन्न आदिवासी जातियों को एक-दूसरे से जुड़े रहने पर विवश कर दिया था। आपसी सामंजस्य, सहभागिता तथा एक-दूसरे से जुड़े आपसी सरोकारों की अनिवार्यता को समझ चुका था आदिवासी समाज।”<sup>2</sup>

इस संबंध में तर्क दिया जाता है कि धुमकुड़िया अथवा युवागृह मुक्त यौन केंद्र है जहाँ स्त्रियाँ यौन संबंध के लिए हमेशा तैयार रहती हैं। यह एक प्रकार का भ्रम है और संकुचित मनोवृत्ति को दर्शाता है। यहाँ युवक-युवतियाँ एक दूसरे को समझने का प्रयास करते हैं, आपसी समझ और सहमति से प्रेम पल्लवित होता है और बाधा न हुई तो विवाह भी संभव है। किन्तु यह कहना अतार्किक है कि स्त्रियाँ यौन संबंध के लिए सर्वदा तत्पर रहती हैं। लेखक राकेश कुमार सिंह ने अपने उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' में बताया है - "युवक-युवतियाँ आपसी सहमति से एक-दूसरे से मिलते-बतियाते थे। कोई जोड़ा कुछ समय एकांत में भी बिता लेता था। चूँकि लड़के-लड़कियाँ युवा शयनगृह की गोपनीयता के प्रति वचनबद्ध होते थे अतः सब कुछ देखते-सुनते भी सोने का स्वाँग करना पड़ता था उन्हें, जिनका जोड़ा नहीं बन पाता था।"<sup>3</sup> कुछ आदिवासी युवक अन्य धुमकुड़िया में प्रवेश करने की हिम्मत भी रखते थे और लड़कियों से मिलते थे, लेकिन इसके लिए आपसी सहमति आवश्यक है। आगे वे लिखते हैं - "इसी प्रकार साहसी आदिवासी युवक दूसरे गाँव की धुमकुड़िया में भी प्रविष्ट हो लेते थे। किसी लड़की से मन मिला तो एक-दूसरे को समझते थे। मन-तन को टटोलते थे। आपसी समझ और तालमेल बैठा सका तो ऐसे सम्बन्धों का निर्वाह भी किया जाता था। बात ब्याह तक भी पहुँच सकती थी अन्यथा पहली ही भेंट में बात समाप्त और प्रातः दोनों पक्ष एक-दूसरे के लिए नए-नए हो लेते थे।"<sup>4</sup> इस प्रकार युवागृह न केवल जीवन संबंधी प्रशिक्षण केंद्र है, बल्कि एकता का जीवंत प्रतीक के रूप में उभरकर सामने आता है जिसे आदिवासी दृष्टि से समझने और आकलन करने की आवश्यकता है। धुमकुड़िया शिक्षण संस्थान के मूल्यों को संरक्षित रखते हुए प्रखर विद्वान जुलियस तिग्गा ने सन् 1944 में धुमकुड़िया को मॉडल बनाकर कांके में 'धुमकुड़िया' नाम से स्कूल खोला था जहाँ वे पारंपरिक नृत्य-संगीत, किस्सागोई के माध्यम से शिक्षा प्रदान करते थे। उन्होंने अपना अनुभव स्वयं लिपिबद्ध किया जिसका संकलन प्रसिद्ध कुडुख भाषी विद्वान महली लिविंस तिर्की ने किया था। जुलियस तिग्गा ने अपने अनुभव में कहा था - "सम्मिलित स्कूल कांके का नया नाम धुमकुड़िया स्कूल सन् 1944 में पड़ा। उद्देश्य में पढ़ाई के साथ-साथ नृत्य-गान को पढ़ाई का माध्यम बनाना और स्कूल को नृत्य-केंद्र बनाकर रखना हमेशा

के लिए जोड़ दिया गया। नृत्य को माध्यम बनाकर प्रयोग बहुत किया गया। इतिहास और भूगोल की पढ़ाई के लिए जो प्रयोग किया गया था वह बहुत अधिक सफल मालूम हुआ उससे कम सफलता गणित और रेखागणित की पढ़ाई में मिली और उससे कम अंग्रेजी की पढ़ाई सफल रही। नए गीत भी रचे गए जिनमें आधुनिक विचार भर दिये गए और राग, नृत्य, ताल पुराना ही रख लिया गया।”<sup>5</sup> अर्थात् प्राचीन और आधुनिक परंपरा के सम्मिलन का अद्भुत प्रयोग ‘धुमकुड़िया’ स्कूल की शिक्षा पद्धति में देखा जा सकता है। जुलियस तिग्गा ने शिक्षकों को भी इस पद्धति को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया। लेकिन विभिन्न कारणों से विद्यालय को बाद में बंद कर दिया गया।

### दाँसाय पर्व

दाँसाय पर्व संताल आदिवासी समुदाय के मुख्य पर्वों में से एक है। दाँसाय पर्व मनाने की अत्यंत प्राचीन परंपरा रही है जिसे आज भी संरक्षित किया गया है। दाँसाय पर्व आश्विन मास में मनाया जाने वाला पर्व है। दाँसाय दो शब्दों के योग से बना है - दाक् + साय जिसका अर्थ है बारिश के जल का समाप्त होना। इस प्रकार बारिश जब खत्म हो जाती है तब दाँसाय पर्व मनाया जाता है। संताल निवासी तथा गुरु-शिष्य के माध्यम से आयन, काजल, दिवी, दुर्गा को ढूँढने की परंपरा है। दाँसाय पर्व के समय दिवी, दुर्गा, आयन, काजल का आह्वान किया जाता है। इस पर्व के उपलक्ष में परंपरागत वाद्य यंत्रों का प्रयोग किया जाता है जैसे- भूवा, घंटा, करताल, बांसुरी, केदूरी आदि। दिवी, दुर्गा को ध्यान में रखकर सभी इसे देवी दुर्गा की पूजा से जोड़कर देखते हैं। वास्तव में दिवी-दुर्गा पुरुष और आयन-काजल स्त्री समुदाय से संबंधित हैं। इसलिए इसे दुर्गापूजा के समानान्तर ठहराना न्यायसंगत नहीं है। दाँसाय पर्व मनाने के पीछे ऐतिहासिक कथा प्रचलित है। आदिवासी कुशल योद्धा माने जाते हैं। आर्यों के भारत आने के पूर्व आदिवासी भारत में निवास करते आए हैं और मैदानी इलाकों में रहते थे। आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया और आदिवासी समुदायों से युद्ध करना पड़ा। आर्यों को उनसे हमेशा पराजित होना पड़ता था। संताल आर्यों को अपनी कुशल युद्धनीति से हरा देने में सफल

हुए। एक दिन सुअवसर देखकर संतालों की मजबूत इकाई के रूप में आयन और काजल नामक स्त्रियों का अपहरण कर लिया गया। उनकी रक्षा के लिए दिवी दुर्गा नामक पुरुषों ने आक्रमणकारियों का पीछा किया। तेज बारिश होने के कारण अन्य साथी उनका पीछा करने में असमर्थ रहे। बारिश खत्म होने के पश्चात् साथी लोगों की खोज आरंभ हुई। उन्हें ढूँढने की विशेष जिम्मेदारी गुरु-शिष्य को दी गई थी। यही कारण है कि दाँसाय पर्व गुरु-शिष्य का भी पर्व होता है। वे धोती और पगड़ी धारण कर हाथ में तीर-धनुष लिये आयन, काजल, दिवी, दुर्गा को खोजने के लिए निकलते हैं। घर-घर घूमकर नृत्य, नाटक आदि पेश किया जाता है तथा उनकी खोज की जाती है। न मिलने पर महिलाएँ दाँसाय नृत्य करने वाले को अनाज देकर आगे देखने का आग्रह करती हैं। इस प्रकार यह पर्व प्रतिकूल परिस्थिति में आपसी एकता एवं सहयोग की प्रेरणा देता है।

### **पत्थलगड़ी**

पत्थलगड़ी की परंपरा अत्यंत प्राचीन रही है। पत्थलगड़ी आदिवासियों की प्राचीन परम्पराओं में से एक है जिसके संबंध में मुख्यधारा समाज में एक भ्रम की स्थिति बनी हुई है। उनका मानना है कि आदिवासी समाज विभिन्न अंधविश्वासों से घिरा समाज है और पत्थलगड़ी उसी अंधविश्वास का एक स्वरूप है। वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है। आदिवासी समुदाय विशेषतः मुंडा समुदाय में पत्थलगड़ी की परंपरा रही है जो आज भी प्रचलित है। “मृतकों की याद संजोने, खगोल विज्ञान को समझने, कबीलों के अधिकार क्षेत्रों के सीमांकन को दर्शाने, बसाहटों की सूचना देने, सामूहिक मान्यताओं को सार्वजनिक करने आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रागैतिहासिक मानव समाज ने पत्थर स्मारकों की रचना की।”<sup>6</sup> आदिवासी समाज में किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है तो उसे भूमि में गाड़ा जाता है। जिस स्थान पर शव को गाड़ा जाता है उसे ससनदिरि कहते हैं। ससनदिरि अर्थात् कब्रिस्तान, किन्तु कब्रिस्तान की अपनी सीमा होती है। ससनदिरि की कोई सीमा नहीं होती है, कोई घेरा नहीं होता है। वह घर के नजदीक खुली जगह में होता है। उस स्थान पर अपने संबंधियों के शवों को दफनाते हैं एवं वहाँ एक

बड़ा पत्थर मृतक की याद में गाड़ते हैं। उस पत्थर पर मृतक के संबंध में कुछ बातें अंकित की जाती है जो अत्यंत मार्मिक एवं अर्थपूर्ण होता है। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है - “आज फलां दिन, फलां महीना, फलां गाँव में, फलां मौजा की सीमा में पाँच भाई गाँव के कुटुंब, बंधु देश के हम आए हुए हैं। हम एकत्र हुए हैं। हमारे बीच से जो देव बन गया है, हमारे बीच से जो छीन गया है, फलां के नाम से, उसकी स्मृति में, तुम्हारे बताए रास्ते से, तुम्हारे इंगित मार्ग से फलां गाँव में, फलां मौजा की सीमा में, फलां के घर के आँगन में, फलां की संतान, फलां की संतति उसे पुरखे, पूर्वजों के साथ मिलाने के साथ हम पत्थर खड़ा कर रहे हैं। हम एक चिन्ह स्थापित कर रहे हैं। हमारे द्वारा खड़ा किया गया यह पत्थर, हमारे द्वारा स्थापित यह चिन्ह युग-युग तक बना रहे, हमेशा के लिए स्थिर रहे। जो कोई इसे देखे, जो कोई इसे पहचाने, हाँ यह आदमी यही था, हाँ यह आदमी यही था, यह प्रजा यहीं की थी। उस आदमी के माध्यम से इस प्रजा द्वारा सारा गाँव प्रकाशित हो, सारा देश जाना जाए। गाँव के निर्माण में सहयोगी देश के गठन में सहयोगी, खूँटकट्टी बचाने वाला आदमी, भुँईहरि का रखवाला आदमी।”<sup>7</sup> इसके अतिरिक्त गाँव अथवा क्षेत्र की सीमा को चिन्हित करने के लिए पत्थलगड़ी का उपयोग होता है। जमीन के प्रमाण के रूप में पत्थलगड़ी का विशेष महत्त्व है। आज जमीन के लेन-देन के लिए लिखित प्रमाण पत्र साक्ष्य के तौर पर रखा जाता है, लेकिन आदिवासियों की जमीन का प्रमाण ये पत्थर ही हैं। ‘गायब होता देश’ उपन्यास में लेखक रणेन्द्र ने इस तथ्य को वास्तविकता के साथ उजागर किया है। उपन्यास में मुंडा समुदाय का भावी युवक नीरज को स्वप्न में उसके पूर्वजों का संघर्ष दिखाई देता था जिसमें उसके पूर्वज अपनी पीठ पर किलि-पत्थर को कहीं दूर प्रदेश में ले जाते हुए दिखाई देते हैं। इस स्वप्न को समझने का प्रयास किया गया और तब जाकर समझ में आई - “नईन सरदार, लेड़ा सरदार, कोरसे सरदार, जसुआ सरदार जैसे सरदारी लड़ाई के सब अगुआ मुंडा सरदार। अंग्रेजों की जमींदारी प्रथा को स्वीकार नहीं किया। मुंडा राज की घोषणा की। कलकत्ता हाईकोर्ट तक मुकदमा लड़ा था। हाईकोर्ट ने प्रमाण मांगा तो कागज पत्र तो था नहीं, किलि और ससन के पत्थर उखाड़ कर ले गए।...उन्होंने जंगल को काट कर रहने-बसने-वास करने लायक बनाया। जिस मुंडा सरदार ने



यह गाँव बसाया उसने अपनी किलि-गोत्र के चिन्ह के तौर पर एक पत्थर गाड़ा था। किलि के ये पत्थर उसके परिवार-पूर्वज के खूंटकट्टीदार होने के सबूत थे।<sup>8</sup> वस्तुतः ये खूंटकट्टीदार पत्थर भूत और वर्तमान को जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं उलिहातु को संसार का सबसे प्राचीन (करीब 2000 वर्ष पुराना) ससनदिरि क्षेत्र माना जाता है। रणेन्द्र ने 'गायब होता देश' में उलिहातु के संबंध में कहा है - "दो हजार सालों से कोई जगह इतनी जीवंत हो, यह बात अपने आप में बहुत अनूठी थी। यही बात इसे दुनिया के सारे धरोहरों में अनोखी बना रही थी। दो हजार साल या उससे भी पहले से मुंडा लोग अपने बुजुर्गों की मिट्टी यहां दफना रहे थे। आज भी दफना रहे हैं। उस दफन हुई मिट्टी से विकरित होती ऊर्जा को एक दूसरे ऊर्जा-पात्र ससनदिरि में इकट्ठा करना या रोकना चाह रहे थे।"<sup>9</sup> पत्थलगड़ी के अंतर्गत पत्थरों को केवल अपने परिजनों, संबंधियों, पूर्वजों की स्मृति में स्थापित नहीं किया जाता, बल्कि यह खगोलीय अध्ययन का बहुत बड़ा माध्यम भी था। ऐसा माना जाता है कि पहाड़ समस्त ऊर्जाओं का केंद्र होता है जिसके इर्द-गिर्द आकाश, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड चक्कर लगाता है। पहाड़ एवं उसके आस-पास बिखरे विभिन्न टुकड़े एक ऊर्जा क्षेत्र को निर्मित करते हैं। ऊर्जा का मुख्य स्रोत होने के कारण बड़े-बड़े ज्ञानी, विद्वान, संत, तीर्थंकरों ने ज्ञान प्राप्ति के लिए पहाड़ों का चयन किया और सत्य से साक्षात्कार किया। पत्थलगड़ी के इस वैज्ञानिक तथ्य से बहुत कम लोग ही परिचित हैं। आदिवासी समुदायों ने ऊर्जा के मुख्य स्रोत पत्थलगड़ी को जीवित रखा। ईसा पूर्व 1000-3000 साल प्राचीन मेगालिथ स्थल दक्षिण इंग्लैंड में है जहाँ पत्थरों का एक वृत्ताकार घेरा है। भारत की बात करें तो "हिंदुस्तान में मेगालिथों से जुड़ी प्रवृत्ति या प्रथाओं को दो रूपों में देख सकते हैं। एक तो दक्षिण भारतीय (आंध्र, कर्नाटक, केरल का मालाबार क्षेत्र) मेगालिथ, जिसमें विदर्भ और उत्तरी विंध्य का इलाका भी शामिल है।...दूसरी प्रवृत्ति पूर्वी भारत में देख सकते हैं। असम, नागालैंड, मेघालय, मणिपुर, उड़ीसा, पश्चिम बंग, छत्तीसगढ़, झारखंड में यह प्रथा आज भी जीवंत है। इन राज्यों की कई आदिवासी जातियाँ आज भी मृतकों को गाड़ने के बाद उस पर चट्टान की पटिया लेटाते हैं (ससनदिरि) और एक पट्टी को खड़ा करते हैं। खासी आदिवासियों में तो मुंडा और हो की तरह जड़तोपा की भी प्रथा है।"<sup>10</sup> इन प्रथाओं के पीछे

आदिवासियों का अपना विश्वास रहा है। उनके पुरखों ने जीवन के कई सूत्रों को खोजा, संरक्षित किया और उसे ज्ञान के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी पहुँचाते रहे। पहाड़ों में अपूर्व ऊर्जा स्रोत होने से कड़ियों में इसे जानने-समझने की रुचि उत्पन्न हुई। 'गायब होता देश' उपन्यास में सोमेश्वर सर ने भी इस ऊर्जा का साक्षात् अनुभव किया था। उनके अनुभव को डायरी में शब्दबद्ध करते हुए वक्ता ने लिखा था - "मैंने 22 सितंबर को जिस 'खास क्षण' की झलक देखी थी वह अब साफ-साफ महसूस कर रहा था। उपकरणों के संवेदी सूचक भी यही संकेत दे रहे थे। किरणों का मेरी देह को छूते मेरा ऊर्जा स्तर बढ़ने लगता, देह की सारी कोशिकाएँ बंद कमल की तरह पंखुड़ियाँ खोलने लगतीं। सारी कोशिकाएँ नेत्रविहीन नेत्रों से उन किरणों की ऊर्जा पीती हुई महसूस होती। फिर डीएनए में लिपटे हुए किताब के पन्ने खुलते। पृथ्वी के जन्म से लेकर एक कोशिका के फंगस-फफूंद, उस फफूंद से अनंत कोशिकाओं की वनस्पति के विकास का चलचित्र साफ-साफ दिखता।"<sup>11</sup> इस अद्भुत घटना को केवल उसने अनुभव किया था, इसके पीछे का रहस्य पुरखों को ही ज्ञात था। इस प्रकार पत्थलगड़ी एक प्राचीन परंपरा रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जब उनका विस्थापन शुरू हुआ तो वे उन पत्थरों के माध्यम से प्रशासन को, तत्कालीन सरकार को यह दिखाने का प्रयास करते कि वे ही उन जमीनों के मूल मालिक हैं और ये पत्थर इसका प्रमाण हैं। इस दौरान कई आदिवासी लोग शहीद हुए थे। अतः उन शहीदों के नाम पत्थर पर अंकित किए जाते थे। इसके बाद नब्बे के दशक में पेसा कानून लागू हुआ जिसके प्रावधानों को पत्थरों पर अंकित किया गया। बी. डी. शर्मा इसके जनक माने जाते हैं। उन्होंने पेसा कानून के प्रावधानों को पत्थरों पर अंकित कर आदिवासी बहुल क्षेत्रों में लगाने का कार्य किया। आज पत्थलगड़ी एक आंदोलन का रूप ले चुका है। आजादी के बाद तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के आश्वासन पर आदिवासियों ने उदारतावश अपनी जमीन उद्योगों की स्थापना के लिए दे दी, लेकिन उन्हें इसका लाभ प्राप्त नहीं हुआ। उन्हें दक्षहीन कह कर रोजगार नहीं मिला। सैकड़ों एमओयू (MoU) हस्ताक्षर किए गए। इस एमओयू के तहत कई कॉरपोरेट घरानों को जमीन अधिग्रहण की छूट दी गई और समझौता के तहत सरकार केवल उनकी सहायता करेगी। कॉरपोरेट जगत ने आदिवासी क्षेत्रों में घुस कर विभिन्न प्रलोभनों के

द्वारा जमीनें अधिगृहीत की और उन जमीनों पर आवासीय कॉलोनी, मॉल आदि खड़े किए गए। अब आदिवासी अपनी जमीन देने के लिए सहमत नहीं है। इसी के विरोध में पत्थलगड़ी आंदोलन चला। वर्तमान समय में खूंटी जिले का पत्थलगड़ी आंदोलन एक बड़ा आंदोलन माना जाता है। आदिवासी मामलों के चिंतक और सक्रिय कार्यकर्ता ग्लैडसन डुंगडुंग ने अपने एक पोस्ट में पत्थलगड़ी आंदोलन के संदर्भ में कहा है - “प्रगति, विकास, जनहित, राष्ट्रहित एवं आर्थिक तरक्की जैसे शब्दों का उपयोग कर आदिवासियों के साथ धोखा किया गया है। इसलिए अब वे किसी भी कीमत पर अपनी जमीन, इलाका और प्राकृतिक संसाधनों को कॉरपोरेट को देने के लिए तैयार नहीं हैं। पत्थलगड़ी आंदोलन की जड़ें यहीं हैं। पत्थलगड़ी आंदोलन मूलतः आदिवासियों की जमीन, इलाका एवं प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा और आदिवासी पहचान तथा स्वायत्तता को बरकरार रखने का आंदोलन है। यह “अबुआ दिसुब अबुआ राज” की परिकल्पना को जमीन पर उतारने का आंदोलन है, जिसे आदिवासियों की जमीन, इलाका और प्राकृतिक संसाधनों को लूटने वाला राज्य, पूंजीपति और दिक् नहीं समझ सकेंगे।”<sup>12</sup>

## जनीशिकार

जनीशिकार आदिवासी समाज की एक प्राचीन परंपरा रही है। यह एक विशेष पर्व है जो उरांव आदिवासी समुदाय में प्रचलित है। यह पर्व फागुन के महीने में बारह साल में एक बार मनाया जाता है। उरांव समुदाय की स्त्रियाँ समस्त शृंगार त्यागकर पुरुषों के समान वेश धारण कर अपने परंपरागत हथियारों - तीर, धनुष, टांगी, बरछा, कुल्हाड़ी, भाला आदि से लैस शिकार के लिए निकलती हैं। अंग्रेजी व्यवस्था लागू होने के पूर्व स्त्रियाँ जंगलों में ही आखेट के लिए जाया करती थीं, किन्तु वन पर प्रतिबंध लगने के पश्चात् एक गाँव से दूसरे गाँव जाकर शिकार करने की नीति अपनाई गई। शिकार का दिन बड़ी पंचायत अर्थात् ‘लो-बीर-सेन्द्रा’ अथवा ‘सेन्द्रा-दुरुपु-ए’ तय करती है जहाँ कई गाँव के मुखिया तथा परगनैत आपसी विचार और सहयोग से समस्त योजनाएँ निर्मित करते हैं। योजनाओं के अंतर्गत दिन, शिकार के लिए पथ निर्धारित किया जाता है। एक-एक करके प्रत्येक गाँव के लिए जनीशिकार की तारीख निर्धारित की जाती

है। नियत की गई तारीख एवं समय पर गाँव द्वारा आने वाली शिकारियों का अभिवादन किया जाता है। शिकारियों के आगमन पर गाँव का प्रधान पुजारी अर्थात् नायके आदर-सत्कार करता है। यदि सूचनानुसार नायके अनुपस्थित रहे तो यह शिकारियों का अपमान माना जाएगा। इस दिन कोई भी स्त्री केवल ग्रामीण स्त्री नहीं होती है, बल्कि वीर पुरुषों की भांति वीरांगना होती है और उनका अपमान होने का तात्पर्य है संस्कृति और पूर्वजों का अपमान करना। जनीशिकार में पुरुष सम्मिलित नहीं हो सकते हैं और न ही वे किसी प्रकार से वीरोचित कार्य में भाग ले सकते हैं। जनीशिकार पर्व मनाने के पीछे पुरखा कथा एवं किंवदंती प्रचलित है। रोहतासगढ़ क्षेत्र उरांव समुदाय का क्षेत्र हुआ करता था। सोन नदी के निकट कैमूर पर्वतमाला के रोहतास पहाड़ के ऊपर उरांवों ने रोहतासगढ़ किला निर्मित किया था जहाँ बाहरी व्यक्ति के लिए पहुँचना संभव नहीं था। किन्तु यह विशिष्ट एवं असाध्य किला मुगलों की आँखों की किरकिरी बना हुआ था और मुगलों ने इस पर अधिकार स्थापित करने के लिए आक्रमण कर दिया था। उस समय उरांव समुदाय प्रकृति पर्व सरहुल मना रहे थे और मुगलों के अचानक आक्रमण से उरांव स्त्रियाँ सजग हुईं क्योंकि सभी पुरुष नृत्य-संगीत एवं हड़िया पीकर बेसुध होकर यहाँ-वहाँ पड़े हुए थे। स्त्रियों ने उन्हें जगाने का हरसंभव प्रयास किया, किन्तु सारे प्रयास व्यर्थ साबित हुए। तत्पश्चात् सिनगी देई, कड़ली देई और चम्पू देई के नेतृत्व में स्त्रियों ने पुरुषों का वेश धारण कर युद्ध का मोर्चा संभाला। “उरांव स्त्रियों ने माथे पर पगड़ी बांधी। दुधमुंहे शिशुओं को चादर में लपेटकर पीठ पर बेतरा बांधा। अब उरांव स्त्रियों की नस-नस कमान बन चुकी थी। उँगली-उँगली तीर...”<sup>13</sup> मुगल जब मुख्य द्वार पर पहुंचे तो उन्हें आशा से विपरीत स्थिति का सामना करना पड़ा। उन पर तीरों और पत्थरों से प्रहार किया गया और उन्हें स्त्रियों की वीरता तथा पराक्रम के समक्ष घुटने टेकने पड़े। मुगलों को अपने समस्त प्रयास विफल नजर आ रहे थे, तभी एक भेदिये के भेद ने इस युद्ध के खेल को पलटकर रख दिया। वे लज्जित भी हुए क्योंकि वे स्त्रियों से युद्ध कर रहे थे और पराजित हो रहे थे। अतः उन्होंने पीछे से वार किया और युद्ध को अपने पक्ष में कर लिया। उरांव स्त्रियों के पास प्रतिरक्षा की नीति अपनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग शेष नहीं था। “पहाड़ के पाँव तले मौन बह रहा था सोन नदी। जय-

पराजय के इस अध्याय का साक्षी था सोन जब किले को, किले में बेसुध पड़े पुरुषों को उनके भाग्य पर छोड़कर किले के बाहर हो गया था उरांव दल।<sup>14</sup> इस पराजय का दंश सबसे अधिक स्त्रियों को था। इसी पराजय की पीड़ा के प्रतिकार के रूप में जनीशिकार पर्व मनाया जाता है। साथ ही सिनगी देई, कइली देई और चम्पू देई के नाम पर गोदने की तीन बिंदी धारण करने की रीति का निर्माण स्त्रियों ने किया। शिकार से संबंधित गीत को देखा जा सकता है जिसे 'सेन्द्रा' कहते हैं -

धिधितंग धिक् तंग... धिधितंग धिक् तंग

सरताम कापीताम, सरताम कापीताम

सरताम कापीताम, सबताम

देदांग बिर बोन, देदांग बिर बोन

देदांग बिर बोन, बादुरी दाराम

धिधितंग धिक् तंग...<sup>15</sup>

### **मुड़मा जतरा**

मुड़मा जतरा एक विशेष प्रकार का सामाजिक-सांस्कृतिक आयोजन है जो राँची के मुड़मा स्थल में आयोजित किया जाता है। वास्तव में मुड़मा एक गाँव है जो राँची से 30 किलोमीटर दूर है। जतरा एक परंपरा है। उसके उद्भव के विषय में कई तरह के मतभेद हैं। जतरा को मेला भी कहा जाता है, लेकिन मुड़मा 'जतरा' नाम से विख्यात है, मेला के नाम से नहीं। गैर आदिवासी समाज ने इसे मेला नाम दिया है। उरांव आदिवासी समुदाय जतरा को प्रमुखता देते थे और सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से यह परंपरा उनके लिए बहुत विशेष है। जतरा का पारंपरिक स्वरूप अन्य समुदायों में कभी प्रचलित नहीं रही और न ही उनके पुरखों के समय से ही देखने को मिला। यह परंपरा आजकल आदिवासी बहुल इलाकों में देखने को मिल रहा है जिसके पीछे अंग्रेजी सरकार की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह जतरा प्रत्येक वर्ष

कार्तिक माह में लगता है जहाँ सभी उरांव समुदाय के लोग एकत्रित होते हैं और अपने ईश्वर धर्मेश, धरती माँ और अपने पुरखों की पूजा-अर्चना करते हैं। आदिधर्मी और सरना धर्मावलम्बियों के अनुसार यह उरांव आदिवासी समुदाय का शक्तिपीठ है; उनके पूर्वजों का खूंट गड़ा हुआ है। इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह उरांव और मुंडा समाज का मिलन स्थल भी है। किन्तु अन्य समुदाय के लोग भी पूरी श्रद्धा के साथ इसमें सम्मिलित होते हैं। मुड़मा जतरा झारखंड का पहला जतरा है और इसका इतिहास काफी पुराना है। मुड़मा जतरा के इतिहास के पीछे दो घटनाएँ प्रमुख रूप से कार्य करती हैं जिनका जिक्र करना बहुत आवश्यक है। पहली घटना का संबंध प्रथम सदी के पूर्व से है तथा दूसरी घटना का संबंध मुगलकाल से है। दोनों घटनाओं का मुख्य विषय झारखंड में उरांव का बसना है। उरांव, मुंडा समुदाय से भी पहले के निवासी हैं। ऐसा माना जाता है कि सर्वप्रथम झारखंड में मुंडा समुदाय के विभिन्न समूहों का प्रवेश हुआ जो एक ऐतिहासिक घटना थी तथा इसका मुख्य स्रोत पुरखा कथा साहित्य है जिसे सोसोबोंगा कहा जाता है। उरांव समुदाय इनके आने के बाद आए थे। इन दोनों समुदायों का आमना-सामना मुड़मा जैसे ऐतिहासिक स्थल पर हुआ। पहले कभी मुड़मा गाँव न होकर एक खुला मैदान था। इस मैदान में दोनों समुदाय के लोग दृढ़ता से डटे रहें। युद्ध से कभी किसी का हित नहीं हुआ। अतः विवाद को सुलझाने के लिए बड़ों ने यह निर्णय लिया कि इस भूमि पर सबका अधिकार है। वे भी उनके (मुंडा) समान ही प्रकृति के पूजक और शांति वाहक हैं। विश्व के सभी मनुष्य इस धरती माता के पुत्र हैं। उन्हें भी यहाँ रहने का पूरा अधिकार है। मुंडा समुदाय ने यह शर्त रखी कि गाँव में स्वशासन की जो व्यवस्था स्थापित है उसमें कोई परिवर्तन न आए और उसी रूप में अपनाया जाए। मुंडा समुदाय की इस शर्त को उरांवों ने स्वीकार कर लिया क्योंकि वे आपस में लड़कर पूरे समुदाय का नाश नहीं करना चाहते थे। ऐसा कहा जाता है कि दोनों समुदायों के बीच आपसी सद्भाव और एकता स्थापित हो गई। उरांव समुदाय ने मुंडा समुदाय की उदारता को देखते हुए उनके प्रति आभार प्रकट किया। सभी लोगों ने समान भाव से उस स्थान में निवास किया और अपनी अस्मिता के रूप में खूंट को स्थापित कर अपने पूर्वजों की पूजा-अर्चना की। कहने का अभिप्राय यह है कि इनके जीवन में धर्मेश, धरती माँ,

पूर्वज की स्मृति बहुत मायने रखती है। आरंभ से ही मुड़मा जतरा मनाया जाता रहा है और यह सह अस्तित्व, सद्भाव, सौहार्द्र, एकता, प्रेम और शांति का प्रतीक है। फिर तो आदिवासी समाज में मुड़मा जतरा उत्सव मनाने की परंपरा चल पड़ी। मुड़मा गाँव साल वृक्षों से ढँका हुआ है। आगे चलकर यह गाँव जतरा के नाम से पुकारा जाने लगा। मुड़मा जतरा के संबंध में दूसरी कथा प्रचलित है। ऐसा कहा जाता है कि उरांव समुदाय के रोहतासगढ़ पर मुगलों ने आक्रमण कर दिया। उन्होंने मुगलों का डटकर सामना किया और उन्हें पराजित कर दिया। किन्तु अंत में मुगलों ने छल से उन्हें उनकी ही जमीन से बेदखल कर दिया। वे लोग इधर-उधर भटकते रहे। सोन नदी पार कर पलामू पहुंचे, फिर उसके बाद राँची। वहाँ स्थित मुड़मा गाँव में मुंडा समुदाय से उनकी मुठभेड़ हुई। उरांव समुदाय ने अपनी करुण कथा उनके समक्ष रखी। मुंडाओं ने उन्हें अपने गाँव में रहने की अनुमति दे दी तथा शर्त के अनुसार वहाँ के नियम-कानून का पालन करना पड़ेगा। साथ ही उनके साथ नृत्य-संगीत की प्रतियोगिता में भाग लेना पड़ेगा। उरांव समुदाय ने उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। बहुत दिनों तक उनके बीच प्रतियोगिताएँ चलती रही। उरांव समुदाय के नृत्य-संगीत अधिक मनमोहक होते हैं। अतः उन्होंने इस प्रतियोगिता को जीत लिया। मुड़मा जतरा के पीछे तीसरी कथा भी है जो सिंधु सभ्यता से जुड़ा हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि उरांव समुदाय हड़प्पा के पतन के पश्चात् रहने को लेकर झारखंड में मुंडाओं से आपसी सहमति दर्ज की और झारखंड को चार प्रदेश में वर्गीकृत किया गया - सरगुजा प्रदेश, छेछाड़ी प्रदेश, हीरा बरवे और छोटानागपुर। मुंडा, खड़िया, हो, संधाल आदि को पूर्व का क्षेत्र दे दिया गया, दक्षिण का क्षेत्र असुर, बिरहोर, बिरजिया और उरांव को। इनमें से कुछ उरांव लोग मुंडाओं के साथ रहने लगे और उनकी ग्रामीण व्यवस्था, भाषा को अपना लिया। राँची क्षेत्र के उरांव समुदाय की भाषा मुंडारी है और ग्रामीण व्यवस्था के रूप में मुंडा समाज के समान मुंडा-पाहन व्यवस्था है। इन समस्त कथाओं में एक चीज कॉमन है वह है मुड़मा। देखा जाए तो मुड़मा आदिवासी समुदाय के लिए वह स्थल है जहाँ उनके बीच सहअस्तित्व और शांति समझौता हुआ। वैसे भी सात गाँव मिलकर एक पड़हा होता है। इस तरह चालीस पड़हा है। प्रत्येक वर्ष मुड़मा जतरा उत्सव मनाया जाता है। पड़हा के लोग झंडा,

विभिन्न चिन्हों और निशानों, ढोल, नगाड़े इत्यादि लेकर जतरा जाते हैं। चालीस पड़हा के लोग इसमें हिस्सा लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति परंपरानुसार साजो-सज्जा के साथ उपस्थित रहता है। तिकोने झंडे के रंग में चाँद, सूरज और सितारे रहते हैं। प्रायः झंडे का रंग सफेद रहता है, लाल रंग की धारियाँ होती हैं। वैसे भी आदिवासी समाज में लाल रंग जीवन और सफेद रंग मृत्यु का सूचक है। जतरा यथार्थ को व्यक्त करता है। नृत्य-संगीत के कारण जतरा मनमोहक हो जाता है। पड़हा राजा, प्रमुख और पाहन लकड़ी के बने टोटम के प्रतीक चिन्ह पर सवार होकर जतरा में आते हैं। जतरा में आने के पश्चात् सभी लोग नृत्य करते हुए खूँटी की परिक्रमा करते हैं। सखुए का फूल पवित्र माना जाता है और पूजा में इसी फूल का प्रयोग किया जाता है। पाहन सखुए के पुष्प तथा अन्य सामग्रियों सहित पूर्वजों का स्मरण करता है तथा खूँट-पूजा की विधि पूरी करता है। खूँट-पूजा होने के पश्चात् नृत्य-संगीत से पूरा जतरा स्थल आनंदमय एवं भव्य हो जाता है।

### मागे परब

मागे परब हो एवं मुंडा आदिवासी समुदाय का मुख्य पर्व है। यह नए साल का प्रथम एवं फसल से संबंधित त्योहार है। जब खेत के फसलों की कटाई हो चुकी होती है तथा कृषि संबंधित समस्त कार्य समाप्त हो जाते हैं, तब मागे पर्व मनाने की प्रथा है। साधारणतया यह माघ मास की पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। मागे शब्द का विच्छेद करें तो यह मा+गे के योग से बना है जिसमें 'मा' माता के लिए और 'गे' 'तुम ही हो' के लिए प्रयुक्त होता है। यदि इन दोनों अर्थों को मिला दिया जाए तो मागे का अर्थ होगा माता (स्त्री) तुम ही हो। अर्थात् धरती को माँ मानकर पूरी श्रद्धा के साथ पूजा-अर्चना की जाती है। ऐसा माना जाता है कि इस समय ही सृष्टि का निर्माण हुआ था। सृष्टिकर्ता सिंगबोंगा ने लुकु एवं लुकुमी को बनाया और उन्हीं से मानव-जाति की सृष्टि हुई। इस दृष्टि से भी यह त्योहार अत्यंत महत्वपूर्ण है। डॉ. वीरभारत तलवार ने मागे पर्व के संबंध में लिखा है- "इस परब का मुख्य उद्देश्य घरेलू देवताओं - अपने पूर्वजों की आत्माओं की पूजा करना होता है। परिवार का मुखिया एक दिन



पहले उपवास रखता है और अगले दिन घर में अन्न और पेय की पर्याप्त उपलब्धि के लिए कृतज्ञतापूर्वक घर के सदस्य अडिंग में (भीतरी कमरे में) अपने पुरखों की आत्माओं को धन्यवाद ज्ञापन करते हुए इस आशय की प्रार्थना करते हैं - “हमारा, जवान और बूढ़ों का, मन और शरीर स्वस्थ रहे। हमारे मवेशियों की वृद्धि हो। जब हम जंगल में जाएँ तो बाघ हम पर हमला न करे। हम अपना काम करने के लायक बने रहें। हमारे पास खाने और पीने के लिए पर्याप्त हो।” आदि-आदि।<sup>16</sup> मागे पर्व छः से सात दिनों तक मनाए जाने का विधान है। प्रथम दिन पारंपरिक पूजन स्थल में सिंगबोंगा की पूजा की जाती है तथा ग्रामीण व्यक्ति इस पूजा में पूर्ण रूप से हिस्सा लेते हैं। अगले दिन गौ पूजा की जाती है जिसमें जामुन के पत्ते के प्रयोग का विशेष विधान है। तृतीय दिवस को घरों को अच्छी तरह से साफ किया जाता है। इसके पश्चात् दिऊरी के घर जाकर हड़िया भेंट स्वरूप दी जाती है। इस दिन पुरखों को भी हड़िया अर्पित करने का रिवाज है। चौथे दिवस को साल की नई पत्तियों को तोड़कर लाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस दिन मनुष्य को हाथ से चीजें बनाने की कला का ज्ञान प्राप्त हुआ था। पांचवें दिवस को सर्वप्रथम आंगन की गोबर से लिपाई की जाती है और गोवां बोंगा की आराधना की जाती है। इसके बाद मुर्गे की बलि दी जाती है। नृत्य-संगीत से पर्व का आनंद उठाया जाता है। मागे पर्व के अंतिम दिवस को मागेया कहते हैं। इस दिन युवा वर्ग द्वारा डंडा लेकर गांव से दुष्टात्मा को भगाने का रिवाज है। सभी सामूहिक रूप से चावल से बने भोजन को ग्रहण करते हैं। कुल मिलाकर यह पर्व सामूहिकता, आनंद, नए साल के आगमन के उपलक्ष में मनाया जाता है।

### **रोपनी के गीत**

गीत मन को स्फूर्ति से भर देता है एवं वातावरण में उल्लास का संचार करता है। गीत कई प्रकार के होते हैं जो भिन्न-भिन्न मौसम, पर्व, परिस्थिति, वातावरण के अनुरूप गाये जाते हैं। जैसे रोपनी के गीत। परंपरागत रूप से आदिवासी समुदाय का जीविकोपार्जन मुख्य रूप से कृषि पर निर्भर रहा है। यह स्वाभाविक सी बात है कि श्रम करने से थकान का अनुभव होता

है। अतः तन और मन की थकावट को दूर करने के लिए गीत गाये जाते हैं जिससे थकान दूर हो जाती है और कोई भी कार्य बोझिल प्रतीत नहीं होता है। इनमें रोपनी के गीत अत्यधिक प्रसिद्ध और सुंदर हैं। यह कृषि पर आधारित गीत है जिसे धान रोपने के समय गाया जाता है। धान रोपने का कार्य मुख्य रूप से स्त्रियाँ करती हैं। स्त्रियाँ अपने जीवन के सुख-दुःख, उतार-चढ़ाव को गीतों के माध्यम से साझा करती हैं। जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है कि आदिवासी समाज में कोई भी कार्य एकल रूप से नहीं किया जाता है। फसल की बुवाई से लेकर कटाई तक के कार्य सामूहिक रूप से किए जाते हैं। गीतों में भी सभी महिलाएँ सामूहिक रूप से भाग लेती हैं। सभी महिलाएँ एक पंक्ति में रहकर धान के पौधे को रोपती हैं और रोपने का आनंद गीतों के माध्यम से उठाती हैं। इस समय महिलाएँ एक-दूसरे को मिट्टी लगाती हैं जिसे 'कादो खेला' कहा जाता है। प्रसिद्ध विदुषी आदिवासी लेखिका डॉ. रोज केरकेट्टा ने रोपनी के संबंध में बताया है - "रोपनी के अंतिम दिन 'कादो खेलने' का रिवाज गांवों में अभी भी है। अब पूरे गाँव की रोपनी समाप्त होने के बाद स्त्रियाँ खेलती हैं। पहले हर किसान की रोपनी के बाद 'कादो खेला' जाता था। ननदें भाभियों को, नातियाँ-पोतियाँ नानियों-दादियों को कीचड़ में पटकती और भागती थीं। भाभियाँ ननदों को दौड़ाती, परंतु दादियाँ-नानियाँ क्या पोतियों-नातियों को पटक सकती हैं? सो वे गालियों की बौछार करती हैं। इस धमा-चौकड़ी में वे बिल्कुल अल्हड़ युवतियाँ बन जातीं।"<sup>17</sup> मिट्टी लगाकर धरती से स्वयं के संबंध को मजबूत बनाने का प्रयास किया जाता है। रोपनी-गीत के वर्ण्य-विषय की विविधता देखने को मिलती है। एक गीत द्रष्टव्य है -

“चेतान बायहाड़ हों चेहेल-चेपेल,

लातार बायहाड़ हों चेहेल-चेपेल।

लुबुय-लुबुय पोहा रोहोय एदा को चासी बोयहा,

चास कामी रे चासी दोको माताव आकान।

इसमें कहा गया है कि ऊपर एवं नीचे दोनों खेत पानी से भर गया है। कृषक कोमल पौधा को उठाकर लगा रहा है और वे कृषि कार्य में मस्त हुए हैं।<sup>18</sup> जब ग्रीष्म ऋतु अपने अंतिम चरण में होता है और वर्षा ऋतु का आगमन होता है तो कृषकों के लिए यह समय आनंद का होता है। इनके गीतों में मेघ बरसने से लेकर हल चलाने तक के विषय वर्णित हैं। एक किसान के लिए अन्न ही सबसे बड़ा धन होता है, उसे ही लक्ष्मी का स्वरूप मानते हैं। लक्ष्मी रूपी धान के जन्म से संबंधित गीत देखने को मिलता है। किसी भी पेड़-पौधे के लिए पानी और मिट्टी दोनों अत्यंत आवश्यक होता है। मिट्टी में वह जन्म लेता है और पानी के माध्यम से फलता-फूलता है। पानी न मिले तो अकाल की स्थिति उत्पन्न होती है और कृषकों के लिए यह चिंता का विषय बन जाता है। अतः जल कृषकों के लिए वरदान है।

### मोपिन त्योहार

मोपिन फसल से संबंधित त्योहार है जो अरुणाचल प्रदेश में मनाया जाता है। यह उत्सव हर वर्ष मनाया जाता है। अरुणाचल प्रदेश के मुख्य पर्वों में से एक मोपिन पर्व अप्रैल माह से आरंभ होता है। गालो आदिवासी समुदाय इस पर्व को बड़ी धूमधाम से मानते हैं। यह एक ऐसा अनुष्ठान है जो मानव जाति को एक साथ जोड़े रखता है। सरकारी रूप से मोपिन पर्व 5 अप्रैल को नियमित तरीके से मनाया जाता है। इसके ठीक दो दिन पहले ही इस पर्व की तैयारी आरंभ कर दी जाती है। जब तक यह पर्व समाप्त नहीं हो जाता है तब तक आदिवासी समुदाय इस पर्व में सम्मिलित रहते हैं। यह कार्यक्रम दिये गए नियत समय से लेकर तीन दिन तक मनाया जाता है। अर्थात् यह पर्व धान की कटाई के समय मनाया जाता है। मातृ शक्ति के रूप में मोपिन अने की पूजा-अर्चना की जाती है जो समृद्धि और उर्वरता प्रदान करती है। इस अवसर पर गालो समुदाय के लोग अपनी परंपरागत वेशभूषा सफेद वस्त्र तथा रंग-बिरंगे मोतियों के आभूषण धारण करते हैं। महिलाएँ अपनी पीठ पर बाँस से बनी टोकरी धारण करती हैं। प्रत्येक परिवार अपने साथ चावल से निर्मित पेय पदार्थ अपोंग लाते हैं जिसे बाँस के बने पात्र में पीने के लिए दिया जाता है। इस पर्व की विशेषता यह है कि सभी लोग बड़े उत्साह के साथ एक-

दूसरे को चेहरे पर चावल का आटा या लेप लगाकर बधाई देते हैं। पवित्र पशु के रूप में मिथुन की बलि दी जाती है। मिथुन को बलि देने से पूर्व एक पेड़ के नीचे बांधा जाता है तथा आशीर्वाद के रूप में उस पर चावल के आटे का छिड़काव किया जाता है। सभी लोग वहाँ इकट्ठा होते हैं, पारंपरिक गीत एवं नृत्य प्रस्तुत करते हैं जिसे पोपिर कहा जाता है। इसके बाद मिथुन की बलि दी जाती है। महिलाएँ बलि दिये गए मिथुन के रक्त को एक पात्र में इकट्ठा करती हैं और इसे आशीर्वाद के रूप में घर में ले आती हैं। मोपिन त्योहार पर लेखिका मोर्जुम लोयी की कविता प्रस्तुत है जो इस प्रकार है-

हाँ मैं आ रही हूँ,

गाँव के मोपिन में

बिछड़े अपनों से मिलने, मोपिन पोपिर में

झूमने, सखियों के संग

माँ के चूल्हे का वो भोजन मुझे खींच रहा है

जिस महक को वर्षों से जोहा और बासमती में

खोज रही थी,

उस भोजन से तृप्त होने मैं आ रही हूँ

गाँव के मोपिन में।<sup>19</sup>

आदिवासी समाज का कोई भी समुदाय हो, सभी अपने घरों का निर्माण उपलब्ध प्राकृतिक सामग्रियों से करते हैं। यहाँ तक कि छाता भी बड़े-बड़े पत्तों से निर्मित करते हैं जो वातावरण को क्षति पहुंचाए बिना संरक्षित करने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

## न्योकुम पर्व

अरुणाचल प्रदेश के न्यीशी आदिवासी समुदाय द्वारा मनाया जाने वाला पर्व है न्योकुम। न्योकुम प्रत्येक वर्ष फरवरी महीने में मनाया जाता है। यह वह समय होता है जब समस्त देवी-देवताओं को पर्व-स्थल में आमंत्रित किया जाता है। सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से पर्व और अनुष्ठान एक दूसरे से परस्पर जुड़े होते हैं। न्यीशी समुदाय का मानना है कि इस पृथ्वी पर आत्माएँ अच्छी और बुरी दोनों रूपों में निवास करती है तथा मनुष्य तभी सुख और शांति से जीवन व्यतीत कर सकता है जब प्रकृति, मनुष्य और ईश्वर के मध्य तारतम्य स्थापित हो। प्रकृति तथा ईश्वर की प्रसन्नता और आशीर्वाद से जीवन में खुशहाली एवं समृद्धि का प्रवेश होता है। यही कारण है कि न्यीशी समुदाय पर्व-त्योहार एवं अनुष्ठान के माध्यम से मानव समुदाय की सुख, शांति और समृद्धि की कामना लिये देवी-देवताओं को प्रसन्न करते हैं। न्योकुम शब्द की उत्पत्ति दो शब्दों के योग से हुई है- 'न्योक' जिसका अर्थ है पृथ्वी अथवा धरती और 'कुम' जिसका अर्थ है चीजों को समूह में रखना। इस प्रकार पर्व स्थल पर सभी देवी-देवताओं को एक साथ आमंत्रित करने के रूप में न्योकुम पर्व को मनाने का विधान है। इस पर्व में मुख्य रूप से देवी न्योकुम की पूजा-अर्चना की जाती है ताकि आने वाले मौसम में फसल की अच्छी पैदावार हो सके। प्राकृतिक आपदाओं का प्रविष्ट न हो और मानव समुदाय तथा फसल प्रभावित हुए बिना फलते-फूलते रहे। न्यीशी समुदाय का मानना है कि पृथ्वी पर पहाड़ों, नदियों, जंगलों, पशुओं, फसलों आदि के रूप में देवताओं का निवास होता है। देवताओं की अप्रसन्नता प्राकृतिक आपदाओं के रूप में देखा जाता है। अतः मानव समुदाय की रक्षा और कल्याण की भावना से प्रेरित होकर न्योकुम पर्व पूर्ण श्रद्धा से मनाया जाता है। पूजा स्थल की रचना बाँस से की जाती है जिसे युगांग कहा जाता है। इस स्थान पर बलि दिये जाने वाले पशु को बांधा जाता है। मिथुन पवित्र पशु माना जाता है और साधारणतया मिथुन की बलि दी जाती है। न्युब अथवा न्योबु अर्थात् पुजारी पूजा विधि सम्पन्न करते हैं। यदि पारिवारिक तौर पर न्योकुम मनाया जाता है तो न्युब उस विशिष्ट परिवार की सुरक्षा और समृद्धि के लिये

‘उयुस’ (आत्मा) को प्रसन्न करता है। उसी प्रकार समूचा गाँव एक साथ मिलकर न्योकुम मनाता है तो न्युब पूरे गाँव की समृद्धि और खुशहाली के लिये उयुस को प्रसन्न करता है। गाँव के लोग सामूहिक रूप से अपिंग, अपो, युगांग का प्रबंध करते हैं। सभी पारंपरिक वेशभूषा धारण करते हैं और पर्व की समस्त गतिविधियों - नृत्य-गीत, संगीत में सहभागी बनते हैं।

### सहिया जोड़ना

सहिया जोड़ना एक परंपरा है जिसके अंतर्गत दो लोगों के बीच विधिवत रूप से मित्रता का संबंध स्थापित होता है। इसके लिए एक व्यक्ति लोटे में पानी तथा टोकरी में कुछ फल, फूल, कपड़े आदि उपहार लेकर अपने सहिया के घर जाता है और सहिया जोड़ा जाता है। जिस दिन सहिया जोड़ा जाता है उस दिन पूरा परिवार एक साथ भोजन ग्रहण करता है। यह संबंध केवल व्यक्तिगत ही नहीं, बल्कि पारिवारिक रिश्ता भी हो जाता है और हर सुख-दुःख में एक-दूसरे के काम आते हैं। सहिया जोड़ने के पश्चात् आपस में लड़ाई का कोई स्थान नहीं होता है। यह परंपरा लगभग समाप्त होती जा रही है। ग्रामीण इलाकों में इस परंपरा को देखा जा सकता है। ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास में रणेन्द्र जी ने सहिया जोड़ने की परंपरा का जिक्र किया है जिसमें वक्ता और ललिता के बीच सहिया जोड़ा जाता है। रिवाज के तौर पर वक्ता ने ललिता को उपहार स्वरूप सलवार सूट का कपड़ा और कलम दिया और ललिता ने वक्ता को शर्ट दिया। दोनों ने एक-दूसरे को गुलईची का फूल भेंट स्वरूप दिया और इसके बाद दोनों नाम के स्थान पर फूल कहकर पुकारने लगे। इस प्रकार सहिया जोड़ना अत्यंत ही आत्मीय और निर्मल भावना से ओतप्रोत परंपरा रही है।

अतः कहा जा सकता है कि विभिन्न पर्व-त्योहार, पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था आदि आदिवासी संस्कृति का मुख्य हिस्सा है। उन्होंने लंबी अवधि के बाद धरा पर मानवीय जीवन शैली को विकसित किया जिसका संस्कृति के विकास में अन्य संस्कृति के समान महत्वपूर्ण योगदान रहा है। बुजुर्गों तथा माता-पिता के माध्यम से संस्कृति का हस्तांतरण होता है। युवा प्रशिक्षण केंद्र के माध्यम से आदिवासी युवक-युवतियों में सामूहिक संस्कृति विकसित करना

मुख्य ध्येय है। साथ ही ये युवा प्रशिक्षण केंद्र उन्हें जीवन और संस्कृति से जोड़ते हुए एक बेहतर मनुष्य बनने की सीख देते हैं। विभिन्न पर्वों में सामूहिकता, सहभागिता, सहअस्तित्व और बंधुता की भावना विद्यमान है। नृत्य-संगीत आदिवासी जीवन से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। वे नृत्य-गीत से स्वयं को दूर नहीं रख सकते हैं। प्रकृति आदिवासी संस्कृति में सर्वत्र व्याप्त है। अतः प्रकृति के साथ-साथ मानवता को बचाने का जीवन दर्शन आदिवासी संस्कृति का मूलाधार है।

## ii) संस्कृति और प्रकृति का अन्तःसंबंध

आदिवासी समाज प्रकृति की गोद में पला, बड़ा और विकसित हुआ। वे कई समुदायों - संथाल, हो, खड़िया, मुंडा, उरांव आदि के रूप में निवास करते रहे हैं। अर्थात् अनादिकाल से ही जंगल, पहाड़ उनका निवास स्थान रहा है। इसलिए आदिवासी भारत के मूल निवासी माने जाते हैं। आदिवासियों ने सर्वथा प्राकृतिक तरीके से अपने जीवन को सजाया और संवारा है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि प्रकृति की सुंदरता उन्हें भेंट स्वरूप प्राप्त हुई है जिस पर वे गर्वित हुए बिना नहीं रहते। विपुल संसाधन की उपलब्धता प्रकृति की ही देन है जिसने मानव को इस संसार में समायोजित करना सिखाया। आदिवासियों ने आवश्यकतानुसार प्रकृति से ग्रहण किया तो प्रदान भी किया।

पूरे विश्व का निर्माण प्रकृति के माध्यम से हुआ है जिसमें मानव-जीवन प्रकृति की अमूल्य कृति है। आदिवासी प्रकृति के अनुकूल सारे कार्य करते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा घड़ी की सुई के विपरीत (एंटी क्लॉक वाइज़) करती है उसी प्रकार आदिवासी अपने समस्त कार्य इसी प्रकार करते हैं। जैसे हल जोतना, नृत्य करना, यहाँ तक कि पेड़ पर लता भी एंटी क्लॉक वाइज़ चढ़ती है। अर्थात् प्रकृति के अनुसार जो कार्य होते हैं आदिवासी उसका अनुसरण करते हैं। आदिवासी संस्कृति और प्रकृति का गहरा संबंध रहा है। उनकी संस्कृति का निर्माण प्रकृति के समस्त अवयवों के सम्मिलन से हुआ है। प्रकृति सुंदर और आनंदमयी होती है जिसके संपर्क में रहकर आदिवासी सदा आनंदित रहते हैं एवं सर्वदा रहते आए हैं। इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध लेखक हरिराम मीणा का कथन द्रष्टव्य है - “संस्कृति के प्रमुख तत्त्व सौन्दर्य बोध व तज्जन्य आनंद और कल्याण की कला है। इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति कलाभिव्यक्तियों व लोकाचार के स्तर पर होती है। सभ्यता व भौतिक विकास के अनुरूप संस्कृति अपना स्वरूप ग्रहण करती चलती है। इस रूप में संस्कृति मानव निर्मित होती है लेकिन मनुष्य का जीवन अंततः प्रकृति पर निर्भर होता है। इसलिए प्रकृति के तत्त्वों से संस्कृति का जुड़ाव अनिवार्य होना चाहिए। प्रकृति से लगाव और मानव सृजित होने की स्थिति के कारण संस्कृति का स्थान



प्रकृति एवं कृत्रिमता के मध्य कहीं होता है। जिन मानव-समुदायों की संस्कृति प्रकृति से निकट का संबंध बनाकर विकसित होती है वे अधिक सौंदर्यबोधी, आनंददायक व कल्याणकारी होती है और जो संस्कृति प्रकृति से दूर हटती जाती है वह शास्त्रीय, वैयाकरणिय, औपचारिक, प्रतिमान आधारित, सजावटी तथा नीरस बनती चली जाती है।<sup>20</sup> प्रकृति के साथ रहकर उन्होंने अनुभव किया कि प्रकृति मानव के बिना जीवित रह सकती है, किन्तु मानव प्रकृति के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता है। अर्थात् प्रकृति जीवनदायिनी स्रोत है। जल, जंगल, जमीन से आदिवासियों का जुड़ाव के पीछे मुख्य कारण यही है।

इस समाज की संस्कृति के साथ प्रकृति रची-बसी हुई है। जन्म से लेकर मृत्यु तक के जीवन के संस्कार प्रकृति से ही संबंधित है। नामकरण संस्कार, विवाह संस्कार, विवाह-विच्छेद (तलाक), मृत्यु संस्कार, पर्व-त्योहार आदि प्रकृति पर आधारित है। उदाहरण के तौर पर विवाह संस्कार को देख सकते हैं। संताल समुदाय में सिंदूरदान की विधि सूर्योदय के समय ही पूरी की जाती है। सिंदूर को साल पत्ते में लिया जाता है। आदिवासी समाज में साल पत्ता अत्यंत पवित्र और शुभ माना जाता है। वस्तुतः समस्त सांस्कृतिक गतिविधियों में साल पत्ते का प्रयोग होता है। संताल आदिवासी समुदाय में यह रिवाज है कि सिंदूरदान के समय वर अपने फूफा अथवा जीजा के कंधे पर रहकर ही सिंदूर से वधू की मांग भरता है। इसलिए फूफा अथवा जीजा 'पूर्वा सादोम' अर्थात् पूर्वजों का घोड़ा माना जाता है। वैवाहिक रीति के अनुसार सबसे पहले वर-वधू देखा में वर-वधू पक्षों द्वारा वधू को तेल-हल्दी लगाकर स्वीकार कर लिया जाता है। तत्पश्चात् सिंदूरदान रीति सम्पन्न होती है और वधू के बांये हाथ में सुहाग के चिन्ह के रूप में 'मेड़हेद् साकोम' अर्थात् लोह खाड़ पहनाया जाता है। प्रेम विवाह का मूल मंत्र होता है जो विवाह-संबंध को मधुर बनाता है। कई बार पति-पत्नी के मध्य मधुरता के स्थान पर कड़वाहट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे संबंध-विच्छेद हो जाता है। संताल समुदाय में पति-पत्नी द्वारा दोनों पक्षों के लोगों के सामने साल पत्ते को बीच में से फाड़कर विवाह-विच्छेद किया जाता है जिसे 'साकाम ओड़ेज्' कहते हैं। मुंडारी में इसे 'सकम चरी' कहा जाता है। विवाह-विच्छेद के

संबंध में हेरॉल्ड एस तोपनो ने कहा है - “यह गाँव के पंचायत की उपस्थिति में होता है। सभा को अध्यक्ष तीन में से एक सदस्य को साल पता देता है। जो तलाक पाने वाले पक्ष का प्रतिनिधित्व कर रहा होता है। यदि साल पता को लेकर बीचों-बीच चीर दिया जाता है तो तलाक स्वीकृत कर लिया जाता है। विवाह टूट जाता है।”<sup>21</sup> इसी प्रकार मृत्यु संबंधित संस्कार में भी साल का पेड़ अथवा डाली का प्रयोग किया जाता है। इसके अंतर्गत ‘नाई-गाडा’ अथवा ‘जिलिज होर’ विधि सम्पन्न की जाती है। ऐसी मान्यता है कि मनुष्य की सृष्टि समुद्र में हुई थी तथा इसी कारण मृत्यु के उपरांत उस पहले जन्म-स्थान तक पहुँचने के लिए नाई-गाडा विधि पूर्ण की जाती है। नाई-गाडा के अंतर्गत अस्थि विसर्जन के वक्त बालू के टीले बनाकर उसके समक्ष साल की डाली गाड़ी जाती है और पूजा-अर्चना की जाती है। गंगा अथवा दामोदर अथवा सुवर्णरेखा नदी में अस्थि बहाने का नियम प्रचलित है। इसी के साथ एक मान्यता यह भी प्रचलित है कि जब संतालों ने उत्तर-पश्चिम क्षेत्र से होकर पहाड़ी क्षेत्र में प्रवेश किया तो मार्ग में एक बड़ी नदी मिली। उस नदी को पार कर सके, इसके लिए उन्होंने उस नदी से सूख जाने का विनम्रतापूर्वक निवेदन किया। साथ ही यह वचन भी दिया कि यदि वे सुगमतापूर्वक पार हुए तो मृत्यु के पश्चात् अस्थि को नदी की यादगार के रूप में पहुँचाएंगे।

आदिवासी और प्रकृति का आपसी संबंध सदियों से रहा है। वे प्रकृति के प्रति श्रद्धा एवं कृतज्ञता का भाव रखते हुए प्रकृति के समस्त अवयव की उपासना करते हैं। धरती, आकाश, सूर्य, चाँद, तारे, यहाँ तक कि पत्थर भी उनके लिए श्रद्धेय हैं। आदिवासी समाज शिकार एवं कृषि प्रधान समाज रहा है। खेती करने के साथ जंगलों के पशुओं का पालन किया तथा कृषि में उन पशुओं का सहयोग प्राप्त किया। जंगल से दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए वस्तुओं को ग्रहण किया। कुल मिलाकर जंगल उनके जीवन का मुख्य आधार रहा है। पहाड़-पूजा का विशेष विधान है। संताल आदिवासी समुदाय में पहाड़ के रूप में बुरुबोंगा को प्रसन्न रखने का विशेष पर्व है पहाड़-पूजा। ऐसा कहा जाता है कि “वन से पर्वत का परिणय वनपर्वत के देवता ‘बुरुबोंगा’ को प्रसन्न रखता है। ‘बुरुबोंगा’ हँसते हैं तो हरे-भरे रहते हैं वन। ‘बुरुबोंगा’ की

प्रसन्नता प्रचुर वनोपज के माध्यम से वनवासियों को भी हरा-भरा रखती है।<sup>22</sup> प्रत्येक पर्व की विशेषता होती है कि वे आदिवासियों के जीवन में नवीनता का संचार करते हैं जिससे उनका समाज नवीन कोपलों की भांति उत्साहित और प्रफुल्लित हो उठता है। यदि प्रकृति प्रसन्न रहेगी तो यह संसार एवं संसार में रहने वाले प्राणी प्रसन्नचित्त रहेंगे अन्यथा बाढ़, भूकंप, अकाल आदि के रूप में प्रकृति के कहर को ही झेलना पड़ेगा। यही कारण है कि आदिवासी सदैव प्रकृति को प्रसन्न रखने की कामना करते हैं जिसके लिए विभिन्न पूजा, पर्व-त्योहार का विधान है।

संस्कृति किसी भी समुदाय की हो, उसके पल्लवित और विकसित होने में प्रकृति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जो संस्कृति प्रकृति से जितने गहरे रूप से संपृक्त होती है उसमें मानवतावादी दृष्टिकोण का प्राचुर्य होता है। इसके विपरीत जिस संस्कृति का प्रकृति से निकटता का संबंध नहीं होता है उसमें आडंबर, दिखावा और कृत्रिमता की प्रधानता होती है। इस विचार से देखें तो आदिवासी संस्कृति प्रकृति के अधिक सन्निकट है। प्रकृति आदिवासी संस्कृति का मूलाधार है। आज प्रकृति को बचाने की बात की जा रही है। प्रकृति को बचाने का अर्थ है आदिवासी संस्कृति को बचना, उसे जीवित रखना। प्रकृति के समस्त रंग, रूप सुंदर और भव्य है। प्रकृति के रंगों की छटा ही निराली है। इसलिए आदिवासी समाज में प्रत्येक रंगों का महत्व है खासकर जामुनी रंग का विशेष महत्व है। आदिवासी समाज में जामुनी रंग सुंदरता का प्रतीक माना जाता है। यद्यपि आदिवासी इतर समाज में यह रंग कुरूपता का पर्याय है। डॉ. मेरी हाँसदा ने सौन्दर्य का प्रतीक जामुनी रंग की महत्ता पर दृष्टिपात करते हुए एक संताली लोकगीत प्रस्तुत किया है जिसमें “माँ अपनी पुत्री से कहती है कि जामुन की तरह सुंदर तुम्हारा शरीर और फूल की तरह मुखड़ा है किन्तु क्यों मुरझाया हुआ है। तुम्हें भात कम दी हूँ कि तरकारी कम दी हूँ तुम्हारा जामुनी रंग मलिन क्यों हो गया है। तुम्हें दूध कम दी हूँ कि दही कम दी हूँ फूल की तरह तुम्हारा सुंदर चेहरा मुरझा क्यों गया है। बेटे तुम भात लो, तरकारी भी लो लेकिन जामुनी शरीर की सुंदरता को बिगड़ने मत देना।”<sup>23</sup> इस संदर्भ में केदारनाथ अग्रवाल की

कविता 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' स्मरण हो आती है जिसका उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है -

फूल नहीं

रंग बोलते हैं

पंखुरियों से।

समुद्र के अंतस्तल के

नील, श्वेत

और गुलाबी

शंख बोलते हैं वल्लरियों से।<sup>24</sup>

आदिवासी समुदाय के संदर्भ में खास बात यह है कि वे जंगल के किसी भी वस्तु का प्रयोग करने से पहले क्षमा याचना करते हैं, उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं, तत्पश्चात् उस वस्तु का उपयोग करते हैं। चाहे जमीन पर हल चलाना हो, लकड़ियाँ काटना हो इत्यादि, वे जमीन तथा पेड़ों से क्षमा मांगते हैं। प्रकृति के प्रति कृत्यज्ञता उनकी संस्कृति है।

आदिवासी और प्रकृति का संबंध अत्यंत विशिष्ट है। पर्व-त्योहार उस संबंध को और भी दृढ़ एवं शक्तिशाली बनाता है जिसमें सरहुल उत्सव अत्यंत महत्वपूर्ण है। सरहुल को प्रकृति उत्सव भी कहा जाता है क्योंकि यह आदिवासियों को प्रकृति से अविच्छिन्न रूप से जोड़ता है। इससे नए साल का शुभारंभ माना जाता है। पेड़ों पर नवीन फूल एवं पत्ते आते हैं जो एक वर्ष की अवधि पूरा होने का संकेत होता है। एक वर्ष के समाप्त होने के पश्चात् नए वर्ष के आगमन पर सरहुल पर्व मनाने की प्रथा है। इस समय आदिवासी अपने पूर्वजों का स्मरण भी करते हैं। मुंडारी संथाली में बाहा, हो में बाः, खड़िया में जंकोर, उरांव में खददी के नाम से प्रचलित है। इसके पीछे मान्यता यह है कि आने वाला वर्ष शुभ, जीवनानुकूल एवं मंगलमय हो, इसकी वे

कामना करते हुए सरहुल पर्व मनाते हैं। “यदि इसकी उपेक्षा की जाए तो आदिवासियों की सामाजिक-आर्थिक गतिविधि आने वाले मौसम में अशुभ और खतरनाक हो सकती है। कोई-कोई मौसमी गतिविधि का सरहुल उत्सव के बाद ही सम्पन्न करने की अनुमति है। यह उत्सव आदिवासियों की सफलता का भी प्रतीक है।”<sup>25</sup> इससे संबंधित एक गीत प्रस्तुत है जिसमें प्रकृति और सृष्टि के रहस्य का पता चलता है -

हेसाःक् मा चोटी रे, जा गोसाई तूदे दोय रागेद कान,

बाड़े में लोया रे जा, गोसाई गुतरुद दोय साहे देत,

औत यो आचुरोक, जा गोसाई दिशोम यो बियुरोःक,

जा गोसाई तूदे रागेद कान, जा गोसाई गुतरुद दोय साहे देत।

हिन्दी में जिसका अर्थ इस प्रकार है कि - हे देव ! पीपल की चोटी में तूद पक्षी अलाप रही है! हे देव ! बरगद के वृक्ष की खोह में सिंह की साँसों का अहसास किया जा रहा है। क्या पृथ्वी अपनी धुरी पर गति में घूम रही है? जिससे क्या देश-देशांतर में ऋतुओं का परिवर्तन हो रहा है? शायद इसी कारण से तूद पक्षी अलाप रही है और सिंह की साँसों का भी अहसास किया जा रहा है।<sup>26</sup> प्रकृति के निकट होने के कारण आदिवासी उसके रहस्यों से अनभिज्ञ नहीं थे। पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना, ऋतु परिवर्तन होना - इन सबका भेद उनके पूर्वजों को पहले से ज्ञात था। बाहा पर्व के दूसरे दिन नायके के घर में आक, राड़ा, सागुन सुपारी के जल-स्तर का निरीक्षण किया जाता है। नायके द्वारा जल-स्तर की विधि सम्पन्न की जाती है। इसके पश्चात् बाहा सेंद्रा का आयोजन किया जाता है। “बाहा-पर्व (पूजा) के पूर्व से यह मान्यता है कि किसी भी प्राणी, चाहे वह कितना हिंसक एवं खतरनाक प्राणी क्यों न हो, बाहा पूजा के पूर्व तीर से संहार करना निषेध है, क्योंकि तीर-धनुष आदिवासियों का धार्मिक चिन्ह एवं सांस्कृतिक पहचान के रूप में धार्मिक अस्त्र का प्रतिरूप है और इसी आस्था एवं विश्वास के साथ धार्मिक चिन्ह तीर-धनुष को आदिवासी समुदाय धारण करते आ रहे हैं।”<sup>27</sup> सेंद्रा की विशेषता यह है कि

शिकार किए गए पशु का मांस सभी में समान रूप से वितरित किया जाता है। यदि मनुष्य के साथ पशु भी हो तो उस पशु को भी समान हिस्सा दिया जाता है। इस सेंद्रा में संथाल आदिवासी समुदाय की अपनी न्याय व्यवस्था 'लो बीर' के रूप में स्थापित की जाती है जहाँ सभी की सहमति से उचित निर्णय लिया जाता है। इस प्रकार बाहा पर्व आपसी सौहार्द एवं सहअस्तित्व का पर्व है जहाँ सर्वहित ही सर्वोपरि है। सभी प्रकृति की दृष्टि में समान है। आज के संदर्भ में देखें तो आदिवासी समुदाय के कई ऐसे लोग हैं जिन्होंने मनुष्य को प्रकृति से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनमें राम हेम्ब्रम प्रमुख हैं। डॉ. बोरो बास्की कहते हैं - "The recipient of this year's Baha Award was a well-known Santal traditional medicine mad, Mr. Ram Hembrom of Ramnagar village, Birbhum District. Mr. Hembrom has grown 475 different varieties of herbal plants in his courtyard and is treating the villagers with these medicinal plants since the last thirty years. Santali dramas 'Kriya' and 'Monetabon bodolabon' were also staged by Sidu Kanu Smriti Sangha of Nildanga and Kalitola Sporting Club."<sup>28</sup> कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति आदिवासी समाज के प्रत्येक गतिविधियों की साक्षी रही है। उसकी उपस्थिति में समस्त संस्कार, उत्सव, रीति-रिवाज सम्पन्न होते हैं। प्रत्येक रिवाज के पीछे संवेदना, धारणा कार्य करती है जो प्रकृति से आदिवासी संस्कृति के अन्तःसंबंध को साबित करता है।

मृत्यु संस्कार के समान जन्म संस्कार को देखा जा सकता है। शिशु के जन्म के पश्चात् जिन संस्कारों का पालन किया जाता है वे जन्म संस्कार कहलाते हैं। जन्म संस्कार इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि वह शिशु अब समाज का हिस्सा है। इसके अंतर्गत दो प्रकार के संस्कार संताल समाज में प्रचलित है - छुत फड़ाव अर्थात् छुतोद्धार और छाटयार अर्थात् नामकरण संस्कार। छुतोद्धार की प्रक्रिया प्रथम दिन से लेकर नौ दिनों में सम्पन्न होता है। अधिकतर प्रयास रहता है कि प्रथम दिन ही यह क्रिया सम्पन्न हो जाए। छुतोद्धार में नीम के पत्ते का

विशेष महत्त्व है जन्मदात्री महिला के प्रसव-गृह में नीम की लकड़ियों से धुँआ दिया जाता है ताकि वातावरण शुद्ध और स्वच्छ रहे तथा शरीर समस्त व्याधियों से मुक्त रहे। अरवा चावल गुंडी युक्त पानी जिसे होलों दाक् कहते हैं, के यत्र-तत्र छिड़काव एवं नीम पत्ते से निर्मित मांड़ के सेवन से परिवार के सभी सदस्य तथा गाँव में छुतोद्धार हो जाता है। इस प्रक्रिया के पश्चात् तुरंत ही जन्मे बच्चे (शिशु) को आसन पत्ता में रख ग्रहण किया जाता है। अब वह शिशु को सामाजिकता प्राप्त हो जाती है अर्थात् वह उक्त समाज का अंग अथवा सदस्य मान लिया जाता है। इसके पश्चात् नामकरण संस्कार अर्थात् छाटयार होता है जिसकी परंपरा छुतोद्धार के समान अत्यंत प्राचीन रही है। आदिवासी समाज की हर संस्कृति प्रकृति से जुड़ी हुई है। शिशु के जन्म के उपरांत किए जाने वाले संस्कारों में भी प्रकृति के उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। नामकरण संस्कार के दिन आसन पत्ता, तुलसी पत्ता और नीम पत्ता का बड़ा महत्त्व होता है। बच्चे को आसन पत्ता में लेकर उसका नाम पुकारा जाता है जो उसे दिया गया होता है। नाम दो तरह के होते हैं - एक उसकी पुरानी पीढ़ी में से किसी एक का नाम दिया जाता है और उसको नया नाम भी दिया जाता है। गाँव वाले उसे दोनों नाम से ही जानते हैं। इस संस्कार के द्वारा अपने पूर्वजों से नई पीढ़ी को जोड़ा जाता है। आसन पत्ता में आदिवासियों के पूर्व पुरुष और स्त्री ने आसन वन में आदिवासियों को गोत्र दिया था। उसी की स्मृति में आसन पत्ता में ही नामकरण किया जाता है। दूसरा अपने पूर्वजों के नाम के द्वारा उनके गुण, संघर्ष, इतिहास आदि को जिलाए रखने की कोशिश की जाती है। नीम पत्ता स्वास्थ्य के लिए उपकारी होता है। इसलिए इस दिन नीम पत्ता मिलाकर मांड़ भात पूरे गाँव को खिलाया जाता है। गाँव वालों को देने से पहले अपने पूर्वजों के नाम से समर्पित किया जाता है। तुलसी पत्ता का भी विशेष प्रयोग होता है। यह संस्कार तीन दिन, पाँच दिन, सात दिन, नौ दिन, ग्यारह दिन या इक्कीस दिन में भी सम्पन्न किया जा सकता है। इसमें गाँव के सभी पंच, जोगमांड़ी, मांड़ी, नायके, परानिक, नाई, धाई और गाँव वाले सम्मिलित होते हैं। बच्चे का बाल मुड़ाया जाता है और गाँव वाले पुरुष भी हजामत कराते हैं। गाँव वाले सभी पुरुष एक घाट में नहाते हैं और स्त्रियाँ

भी दूसरे घाट में एक साथ नहाती हैं और साथ में देवी-देवता की पूजा की जाती है। इसके बाद पूरे गाँव वाले नीम पत्ता मिला माड़ भात खाते हैं।

करम पर्व प्रकृति पर्व के रूप में मनाया जाने वाला एक विशिष्ट पर्व है। झारखंड, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल का आदिवासी समाज इसे पूरी श्रद्धा और सम्मान के साथ मानते हैं। समुदाय में सुख, शांति और समृद्धि बरकरार रहे, इसी कामना के साथ प्रकृति स्वरूप करम वृक्ष की पूजा-अर्चना किये जाने का विधान है। यह पर्व बहन-भाई के लिए भी अत्यंत खास है, बहनें करम देवता से अपने भाइयों की मंगलकामना की प्रार्थना करते हुए व्रत रखती हैं। करम पर्व अगस्त-सितंबर महीने में सभी राज्यों में मनाया जाता है और करीब एक सप्ताह पूर्व इसके आयोजन की तैयारियाँ प्रारम्भ की जाती हैं। ग्राम की अविवाहित युवतियाँ टोकरी में कुल्थी, उड़द, धान, गेहूँ, जौ, मूँग, खेसारी आदि का बीजारोपण करती हैं। सात दिन पश्चात् इसमें से अंकुरित पौधे निकल आते हैं जिसे जावा कहते हैं। जावा का अर्थ है अंकुरण। इन्हें अंकुरित करने के पीछे मान्यता यह है कि करमा-धरमा भाइयों ने करम की डाली में बकरी का दूध डाल दिया था जिससे डाली मुरझा गई थी। अतः उसे पुनःजीवित रूप में देखने के लिए जावा किया जाता है। शाम के समय युवतियाँ नृत्य-गान करते हुए करम की डाल को लाने जंगल जाती हैं। करम डाल को लाने से संबंधित गीत गाए जाते हैं जिससे पूरा वातावरण ही नहीं, बल्कि प्रकृति भी आनंदित हो उठती है। गीत गाने के पीछे के दर्शन को व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार महादेव टोप्पो कहते हैं, “हमारे पुरखे प्रकृति से इस तरह से जुड़े थे, प्रकृति को समझ चुके थे कि प्रकृति को जब, जिस तरह के लय, ताल के गाने की जरूरत होती थी उसी तरह के गाने का उन लोगों ने विकास कर लिया था। एक उदाहरण देखा जा सकता है। एक बार कृषि वैज्ञानिकों ने एक छोटा सा प्रयोग किया और एक फसल को एक ही मौसम में एक ही तरह का खाद्य, जल दिया गया और उसी तरह के अन्य फसल को भी उसी तरह का खाद्य, जल दिया गया, लेकिन दोनों में अंतर यह था कि एक की फसल को उन लोगों ने सुबह-शाम गीत सुनाए और एक फसल को गीत नहीं सुनाए। तो उन्होंने देखा कि जिस



फसल को उन लोगों ने गीत सुनाया था, वह गीत न सुनाने वाली फसल के मुकाबले पुष्ट थे। हमारे पुरखों को यह पहले से ही ज्ञात था। जब धान फूटने का मौसम होता है तो हमारे पुरखे गीत गाकर, सुनाकर, ढोल-माँदर बजाकर पौधों को आनंदित करना चाह रहे होंगे। इसलिए रातभर गाना गाकर, सुनाकर उनको देखते थे।<sup>29</sup> करम की डालियों को लाकर गाँव के अखड़ा में लगाया जाता है। इसके बाद पाहन द्वारा करम वृक्ष की पूजा-अर्चना की जाती है। इस दौरान पाहन करम पर्व से जुड़ी पुरखा कथा सबको सुनाता है। कथा के अनुसार करमा-धरमा दो भाई थे जो धन उपार्जन के लिए दूसरे देश गये हुए थे। जिस दिन वे परदेश से वापस अपने गाँव लौटे उस दिन सभी करम पर्व मनाने में तल्लीन थे। दोनों भाइयों ने गाँव की सीमा के अंदर प्रवेश नहीं किया। जब तक विधिवत स्वागत नहीं किया जाएगा, तब तक प्रवेश वर्जित है। काफी विलंब होने के पश्चात् करमा ने विवशतावश गाँव वालों को अपने आने की सूचना देने के लिए धरमा को भेजा। किन्तु धरमा गाँव वालों को सूचित करना भूल गया और करम पर्व में सहभागी के रूप में सम्मिलित हो गया। पुनः विलंब होने के कारण करमा ने स्वयं गाँव में प्रवेश किया और सभी ग्रामीण जनता को पर्व में तन्मयता से तल्लीन देखकर अचंभित हो गया और क्रोधवश करम की डाल को उखाड़ फेंका। इसके पश्चात् करमा के जीवन में दुःख और पीड़ा का प्रवेश हुआ। तब किसी की सलाह पर करमा ने करम की डाल लाकर उससे अपने अपराध की क्षमायाचना की तथा उसकी पूरी श्रद्धा से पूजा अर्चना की। इसके पश्चात् करमा करम देवता की खोज में निकला तथा कई वर्षों के कठिन परिश्रम के पश्चात् उसकी खोज सफल रही और करम देवता से क्षमा याचना की। करमा ने करम वृक्ष की तीन डालियों को काटकर लाया और परंपरागत पूजा-अर्चना की। करम देवता के आशीर्वाद से उसके जीवन में खुशहाली छा गई। अतः कोई भी करम पर्व की उपेक्षा नहीं करता है। व्यक्तिगत अथवा सामूहिक तौर पर करम पूजा अवश्य की जाती है। इसके लिए पूजा से पूर्व राय-विचार कर लिया जाता है और तिथि निश्चित कर ली जाती है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि गिनीज़ बुक ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्ड में अब तक का सबसे बड़े करम नृत्य के रूप में सम्मिलित है जिसे वैश्विक पटल पर एक पहचान मिली। इस नृत्य में 3,049 लोगों ने हिस्सा लिया था और 50 लोगों के 61 बड़े

घेरे बनाकर प्रसिद्ध करमा नृत्य प्रस्तुत किया गया था। यह नृत्य कम से कम 5 मिनट तक चलता रहा तथा सभी लोग अपने पारंपरिक परिधान में शामिल थे। इस नृत्य का आयोजन मध्यप्रदेश के मंडला जिला प्रशासन द्वारा किया गया था। कुल मिलाकर करम पर्व प्रकृति पर्व है और करम वृक्ष इसी प्रकृति का ही एक रूप है। आज हम पेड़-पौधे लगाकर पर्यावरण संरक्षण की बात करते हैं। किन्तु आदिवासी यह सदियों से करते आ रहे हैं। इस अर्थ में करम पर्व के अंतर्गत करम वृक्ष की अर्चना के पीछे की मूल संवेदना पर्यावरण संरक्षण है। साथ ही नृत्य-गान सामूहिकता और सहभागिता का परिचायक है।

संथाल आदिवासी समुदाय का सबसे महत्वपूर्ण और लोकप्रिय पर्व सोहराय है। प्रत्येक वर्ष कार्तिक अमावस्या को सोहराय पर्व मनाने की प्रथा है। सामान्यतः यह तीन दिनों तक मनाया जाता है, किन्तु कुछ-कुछ जगहों में लोग इसे पाँच दिनों तक भी मनाते हैं। इस समय नृत्य, गीत, संगीत, घरों की साज-सज्जा एवं रंग-रोगन का सुंदर स्वरूप देखने को मिलता है। सोहराय पर्व को सोहराय महीने में मनाया जाना उचित माना जाता है, किन्तु 1855 के हूल आंदोलन के कारण सोहराय पर्व कार्तिक माह में न मनाकर माह महीने में मनाने का प्रचलन हुआ। मनुष्य ने जब से कृषि कार्य शुरू किया तब से पशुओं का सहयोग उन्हें कृषि कार्य में मिला। कृषि क्षेत्र में पशुओं के अमूल्य सहयोग एवं योगदान से सोहराय पर्व का प्रारम्भ हुआ। इस समय गृहपालित पशुओं के प्रति सम्मान एवं आदर के साथ आभार व्यक्त करने का विधान है। “संथाल परंपरा के अनुसार किसी व्यक्ति के जन्मदिवस को मनाने की प्रथा नहीं रही है, किन्तु यह आश्चर्य लगता है कि गृह पालित पशु गाय, बैल का जन्मदिवस मनाने की प्रथा एवं परंपरा आदिकाल से चली आ रही है। सोहराय पर्व के अवसर पर सोमवार के दिन को विशेष ध्यान दिया जाता है। उस दिन गाय-बैल को खूँटा में बाँधकर (खुंटाव) नचाया नहीं जाता है। उस दिन बाँधना वर्जित है। कहा जाता है उस दिन उसका जन्मदिवस है।”<sup>30</sup> सोहराय पर्व के प्रथम दिवस गोट पूजा की जाती है जिसे गाँव के सभी लोग एक साथ मिलकर करते हैं। गोटपूजा के लिए गोड़ाइत सभी के घरों से पूजा सामग्री के रूप में चावल और मुर्गी एकत्रित

करते हैं। यह सभी को देना पड़ता है और किसी प्रकार की असमानता अथवा भेदभाव नहीं बरती जाती है। सभी पूर्ण सहयोग करते हैं। महिलाएँ घरों को विभिन्न प्राकृतिक रंगों से रंगती हैं। गोटपूजा के लिए उचित सामग्रियों को एकत्रित कर नायके गोट-स्थल की ओर निकल पड़ता है और गाँव के लोग भी उनके साथ जाते हैं। नायके सर्वप्रथम मारांगबुरु का स्मरण करते हैं, तत्पश्चात् पूजा आरंभ की जाती है। पूजा स्थल को गोबर से लीपकर चावल का खोंड़ बनाया जाता है। एकत्रित किए गए मुर्गी के चूजों की बलि देने की प्रथा है। बलि देने के पहले चूजों को चावल का खोंड़ खिलाया जाता है क्योंकि ऐसी मान्यता है कि चावल खाने वाले चूजों की बलि देने से ग्राम देवता प्रसन्न होते हैं। सर्वप्रथम जाहेरआयो को भूरे रंग के चूजे की बलि दी जाती है। इसके पश्चात् मारांगबुरु और ग्राम देवता को क्रमशः सफेद रंग और लाल रंग के चूजे की बलि दी जाती है। बलि देते समय सभी लोग मनुष्य और उनके सहयोगी पशु के खुशहाली एवं अच्छे स्वास्थ्य की कामना करते हैं। इस प्रकार गोटपूजा समाप्त हो जाता है और सभी ग्रामीण व्यक्ति लेटो भात खाने के लिए बैठते हैं। कुछ लोग अपने गृह पालित पशुओं और उनके चरवाहों की प्रतीक्षा करते हैं। इसी क्रम में मैदान के बीचों बीच पृथ्वी के प्रतीक स्वरूप एक अंडे को रखा जाता है और इसकी पूजा की जाती है। इसके ऊपर से पशुओं को पार कराया जाता है। जिस पशु के पैर से अंडे का स्पर्श होता है, उसे उस वर्ष का अत्यंत शुभ पशु माना जाता है और उसके मालिक को कंधे पर बिठाकर नचाया जाता है। इससे विश्वास हो जाता है कि मारांगबुरु के आदेशानुसार धरती पर पशुओं का आगमन हो चुका है और इसी शुभ पशु से मानव जीवन में खुशी का संचार होगा। सोहराय पर्व के संबंध में कई पुरखा कथाएँ एवं मिथक प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार - “आदिकाल के समय में मनुष्य ने कृषि कार्य से जुड़े पशुओं को अधिक धन उपार्जन की लालच में दिन-रात काम में लगा दिया था। इधर फसल तो अधिक होने लगी, किन्तु पशुओं की हालत बिगड़ती गई। खाना-पीना एवं विश्राम की कोई व्यवस्था नहीं थी। इससे पशुओं का रुष्ट होना स्वाभाविक था। फलस्वरूप सभी गृहपालित पशु पृथ्वी छोड़कर परम पिता परमेश्वर के पास शिकायत करने चले गए थे। पशुओं के बिना कृषि कार्य बंद हो गया। इस भीषण परिस्थिति से उद्धार हेतु मनुष्य ने भी भगवान् से प्रार्थना की। भगवान्

ने पशुओं की पृथ्वी छोड़कर यहाँ आने की शिकायतों को सुन लिया तथा मनुष्यों की भी प्रार्थना सुन ली एवं दोनों को अधिकार के साथ कर्तव्यों का पालन करने की सलाह दी। पशुओं ने पृथ्वी में पुनः वापस आने की सहमति दी एवं मनुष्य भी कर्तव्यों के साथ उनकी सेवा करने के लिए तैयारी में जुट गया, ताकि उनका स्वागत बड़ी धूमधाम से किया जा सके।<sup>31</sup> एक अन्य कथा के अनुसार संतालों के सर्वोच्च बोंगा बाबा ठाकुर ने अन्य तीन बोंगाओं की रचना की - जाहेर आयो, लिटा गोंसाय और मोड़े को तुरुय को। लिटा गोंसाय सृष्टिकर्ता के रूप में मारांगबुरु हुए तथा लिटा गोंसाय व जाहेर आयो और मोड़े को तुरुय को क्रमशः पालनहार और जीवन के संरक्षणकर्ता हुए। जब मनुष्यों ने धरती पर जन्म लिया और विकसित हुए, तब बाबा ठाकुर ने लिटा गोंसाय को संबोधित करते हुए कहा कि मनुष्य को अपने जीवन की दिनचर्या में कुछ नियमों को सम्मिलित करना होगा। इसके लिए आप सुनिश्चित करें कि वे दिन में एक दफा भोजन और तीन दफा स्नान करें। लिटा गोंसाय ने इसके ठीक विपरीत कार्य किया। अर्थात् दिन में तीन बार भोजन करने और एक बार स्नान करने का संदेश लिटा गोंसाय ने मनुष्यों को दिया। जैसे-जैसे मनुष्य की जनसंख्या में वृद्धि होगी, खाद्य की उपलब्धता में कमी आएगी। खाद्य आपूर्ति में कमी को पूरा करने के लिए अत्यधिक उत्पादन करना होगा जिसके लिए पशु उनके सहयोगी बनेंगे। बाबा ठाकुर के आदेशानुसार लिटा गोंसाय ने मवेशियों के रूप में धरती पर जन्म लिया। लिटा गोंसाय ने बाबा ठाकुर से इच्छा व्यक्त की कि वे धरती पर उनसे भेंट करने अवश्य आएँ। बाबा ठाकुर ने असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा कि वे नहीं आ पाएंगे, लेकिन उनके स्थान पर कार्तिक अमावस्या को ठाकुराइन धरती पर प्रकट होंगी। अतः ठाकुराइन बूढ़ी को प्रसन्न करने के लिए मवेशियों की सेवा-सुश्रुवा की जाती है। सोहराय पर्व मनाने के पीछे ये दंत कथाएँ प्रचलित हैं। पूजा समाप्ति के पश्चात् सभी पशुओं को वापस घर लाया जाता है। महिलाएँ पशुओं का स्वागत करती हैं और गीत गाकर चुमाओड़ा करती हैं। संथाली में एक गीत द्रष्टव्य है -

“ने शांवड़ा नाम शांवड़ा ते शाय शांवड़ा

नोवा गोड़ा-निया यात्रा।

पेरेच काअ चोड़ड काअ।

गाडा पारोम मुडू पारोम।

हेव लेको होवोर लेको।

आयुर नागु सुतुक नागु।

आर्जाव आलेपे विरजावो आलेपे।

कुडाम ते साते ते।

डिलि बाड़े साईका बाड़े

नामरेन गोमकेन दो पायकेम दो।

नाई पारोम गाड़ा पारोम

बाला बाड़े शाखा बाड़े।

जोजोम बाडेनु-नु बाड़े<sup>32</sup>

सोहराय पर्व के दूसरे दिन गोहाल पूजा की जाती है। उस दिन अपने गोत्र के गोहाल देवता और पूर्वजों का स्मरण करते हैं और उनसे सभी मानव समुदाय की मंगलकामना और पशुओं के अच्छे स्वास्थ्य की प्रार्थना करते हैं। स्त्रियाँ चावल का गुड़ी बनाकर घर के द्वार पर सुंदर डिजाइनें बनाती हैं। फूल, सिंदूर, दीये से सजाकर वह और भी आकर्षक लगती है। इसके ऊपर घास रखा जाता है जिसके ऊपर से होकर पशुओं को आदरसहित गोहाल में प्रवेश कराया जाता है। संथाल आदिवासी समुदाय प्रकृति और पुरखों के प्रति कृतज्ञ हैं। इसलिए वे उनकी कृतज्ञता में पूजा-अर्चना करते हैं और उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। संध्या के समय नायके और मांझी के घरों में सुशोभित पशुओं का चुमाओड़ा किया जाता है। इसके पश्चात् स्त्रियाँ प्रत्येक घरों के

पशुओं का चुमाओड़ा करती हैं और गीत गाती हैं। पूरा वातावरण आनंदमय हो जाता है। पर्व का अंतिम दिन अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। इस दिन पशुओं का भव्य श्रृंगार किया जाता है। स्त्रियाँ आँगन में दोहोंथान बनाती हैं। पुरुष अपने-अपने खेतों से धान की बालियाँ लाते हैं। इससे पशुओं के सींग को सजाया जाता है जिसे धांवा कहते हैं। साथ ही पशुओं को विभिन्न रंगों से सजाया जाता है और इसके पश्चात् उन्हें चरने के लिए छोड़ दिया जाता है। जब वे चरने के लिए रवाना होते हैं उसी समय महिलाएँ चावल गुड़ी के गोले उन पर उछालती हैं और मालिकों पर गोबर से बने गोले उछालती हैं। पशुओं के शरीर पर पानी मिश्रित हँडिया उढ़ेला जाता है ताकि उन्हें पुरखों का संरक्षण प्राप्त हो सके। इस प्रकार सोहराय पर्व महज एक पर्व नहीं, बल्कि एक जीवन दर्शन है जहाँ केवल मनुष्य ही नहीं समस्त प्राणी जगत का हित केंद्र में होता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आदिवासी संस्कृति और प्रकृति का गहरा और अटूट संबंध रहा है। उनकी संस्कृति प्रकृति के संरक्षण में ही विकसित हुई है। आदिवासी समाज और संस्कृति को विकसित करने में प्रकृति और समस्त प्राणी जगत के प्रति वे कृतज्ञ हैं। वे अपनी सांस्कृतिक गतिविधियों में जड़ अथवा चेतन तत्वों के योगदानों को स्मरण करते हैं और अपने साथ-साथ समस्त प्राणी जगत की मंगलकामना करते हैं। सहभागिता और सहअस्तित्व की भावना आदिवासी संस्कृति का मूल है। प्रकृति में हो रहे परिवर्तनों का आभास सर्वप्रथम उन्हें होता है। यथा वसंत ऋतु के आने से पेड़ों पर नए पत्ते एवं कोपलें फूटते हैं। चारों ओर फूलों की मधुर सुगंध से वातावरण सुगंधित हो उठता है। प्रकृति पर पड़ने वाले इस प्रभाव को आदिवासी अनुभव करता है और प्रकृति के स्वागत में इस समय पुष्प पर्व 'बाहा' मनाया जाता है। नृत्य-गान के माध्यम से प्रकृति का धन्यवाद ज्ञापन करते हुए बाहा पर्व मनाते हैं। इस प्रकार प्रकृति के बिना आदिवासी समुदाय का कोई अस्तित्व नहीं है। प्रकृति है तो आदिवासी है।

### iii) सांस्कृतिक परिवर्तन : कारण और परिणाम

आदिवासी समुदाय धनी संस्कृति वाला समुदाय है। वर्तमान समय में आदिवासी अपनी ही संस्कृति को हीन दृष्टि से देख रहे हैं। आदिवासी समुदाय के अन्तर्गत एक शिक्षित आदिवासी समाज उभरकर सामने आ रहा है जो अपनी परंपरागत संस्कृति को जज करने लगे हैं। आदिवासी इतर समाज के समक्ष वे अपनी पहचान बताने में संकोच का अनुभव करते हैं अथवा अपनी पहचान प्रकट करना उचित नहीं समझते हैं। वे स्वयं को हीन मानते हैं यह सत्य है, किन्तु वे स्वयं को हीन क्यों मानने लगे हैं - इसके पीछे के कारण को जानना आवश्यक है।

सदियों से गैर आदिवासी समाज आदिवासियों को जंगली और असभ्य कहकर उनकी संस्कृति को तुच्छ साबित करने पर तुला रहा है। आदिवासियों ने भी इसे धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया है। मुख्यधारा के समाज ने हीन जातीयता बोध का ऐसा नजरिया सेट कर दिया है जिसे ग्रहण किये बिना आदिवासी समाज स्वयं को आगे बढ़ता हुआ नहीं देख सकता है। इस हीन दृष्टि का मुख्य कारण है मातृभाषा में शिक्षा का अभाव। मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार भारतीय संविधान ने सभी नागरिकों को प्रदान किया है, किन्तु आदिवासी इस अधिकार से वंचित कर दिये गए। शिक्षा वैचारिक स्तर का निर्माण करती है। जब एक आदिवासी बालक अन्य भाषा में शिक्षा प्राप्त करता है तो यह स्वाभाविक सी बात है कि वह अन्य बालकों की तुलना में कमजोर साबित हो जाता है अथवा पीछे रह जाता है। इपिल मोनिका बास्की की कहानी इस तथ्य को बड़ी सरलता से उजागर करती है। 'जोहार जर्नल' में 'सेक्लुडेड एडुकेशन' नाम से उनकी कहानी प्रकाशित हुई। उन्होंने अंग्रेजी में लिखी अपनी कहानी में बताया है कि महज तेरह साल का संताली लड़का बुदन आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का शिकार बनता है। शिक्षकों ने उसे आलसी, बेवकूफ और 'किसी काम का नहीं' करार कर दिया था। वह परीक्षा में फेल होता जा रहा था क्योंकि उपलब्ध शिक्षा सामग्री उसकी मातृभाषा से भिन्न थी जिसे समझने में उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वस्तुतः वह अत्यंत मेधावी और आत्मविश्वासी लड़का रहा है जिसे परंपरागत वाद्ययंत्रों को बजाने से लेकर गीत-संगीत में

महारत हासिल थी। इस तथ्य को शिक्षकों ने नहीं समझा और इस तथाकथित शिक्षा व्यवस्था ने उसके आत्मविश्वास को तोड़ दिया। समाज का एक बड़ा तबका मानता है कि शिक्षा सबके लिए नहीं होती है। कुछ लोग सामाजिक सीढ़ी के शीर्ष पर होने के लिए बनते हैं जबकि कुछ उनके नीचे। यही कारण है कि मेधावी होते हुए भी आदिवासी पीछे रह जाते हैं। वह स्वतः अनुभव करने लगता है कि उसकी मातृभाषा सबके मध्य बोलने, लिखने और पढ़ने योग्य नहीं समझी जाती है। शिक्षकों से लेकर शिक्षार्थियों तक सभी उसकी मातृभाषा का अपमान करते हैं, फलतः मानसिक दबाव के कारण वह अपनी मातृभाषा का प्रयोग करने के स्थान पर अन्य भाषा का उपयोग करने लगता है। इसके साथ ही जो शिक्षा सामग्री प्रदान की जाती है उसका उनके समाज, संस्कृति, परंपरा, मूल्य से कोई सरोकार नहीं है। वह उन्हें ही जीवन का आदर्श मानकर चलेगा जो उन्हें शिक्षा सामग्री में प्रस्तुत की जाएगी। उनकी अपनी दुनिया है, अपने जीवन-मूल्य, संस्कृति-परंपराएँ हैं जिनका उपलब्ध शिक्षा सामग्रियों से कोई तालमेल नहीं बैठता। आदिवासी बहुल क्षेत्रों में स्थापित शिक्षण संस्थानों में भी इन्हीं शिक्षण सामग्रियों का अध्ययन-अध्यापन में प्रयोग किया जाता है। डॉ. वीर भारत तलवार ने कहा है - “ये किताबें उस संसार की नहीं हैं जिनमें वे खुद अपने माता-पिता, भाई-बहनों और हमजोलियों के साथ रहते आये हैं। ये किसी पराये, अजनबी संसार की किताबें हैं जिनमें आदिवासी लड़के-लड़कियों को अपने उस समाज, परिवेश और परम्पराओं के चिन्ह कहीं नहीं मिलते जिनमें वे जन्में और पले हैं और जो उनमें से अधिकांश की नियति भी है। फिर भी स्कूल कॉलेजों में ऐसी किताबों को पढ़ते रहना आदिवासियों के लिए एक मजबूरी है।”<sup>33</sup> बच्चे के भीतर जो विचार निर्मित होते हैं, उसमें मौजूदा शिक्षण सामग्रियों की विशेष भूमिका होती है। इस प्रकार घर-परिवार का वातावरण और विद्यालय के वातावरण में समानता दिखाई नहीं देती है जैसा कि दिखना चाहिए। अतः वे स्वयं को फिट नहीं पाते हैं। नंगुगी वा थ्योगो ने औपनिवेशिक भाषा के प्रभाव पर विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने लिखा है - “औपनिवेशिक बच्चे ने विश्व को एक ऐसी दृष्टि से देखने का तरीका विकसित किया अथवा उसे इसके लिए मजबूर किया गया जो उस पर थोपी गई भाषा की संस्कृति से पैदा हुई थी। और चूंकि वे बिंब मुख्यतया मौखिक और लिखित साहित्य



के जरिये उसके दिमाग में उभरे, वह बच्चा अब विश्व को केवल उसी साहित्य के जरिये देख सकता है जो विदेशी भाषा में उपलब्ध है।”<sup>34</sup> फॉर्मल एडुकेशन अर्थात् औपचारिक शिक्षा गैर मातृभाषा में प्रदान की गई। यह केवल मानसिक गतिविधि बनकर रह गया जिसका संवेदनाओं से कोई सरोकार नहीं रहा। भाषा संस्कृति का वाहक होती है और औपनिवेशिक भाषा ने आदिवासी शिक्षार्थियों में अपनी संस्कृति के प्रति एक अलगाव बोध की स्थिति उत्पन्न कर दी है। उनका एक ऐसी संस्कृति से साक्षात्कार हुआ जो पूर्ण रूप से अपरिचित था। दूसरी अहम बात यह है कि आदिवासियों को भिन्न तरीके से देखने की प्रवृत्ति विकसित हो रही थी। इनकी संस्कृति, जीवन मूल्यों, परंपराओं आदि को कमतर आंका गया। आदिवासियों की अपनी समृद्ध शिक्षा पद्धति रही है जिसे धुमकुड़िया अथवा घोटूल कहा जाता है। यहाँ जीवन के लिए आवश्यक गतिविधियों के लिए शिक्षित किया जाता था। केवल एक बात की कमी थी कि वहाँ अक्षरों के ज्ञान की अपेक्षा जीवन मूल्य का ज्ञान जीवन को संचालित करने में, समाज को मजबूत करने में और देश को संगठित करने में ज्यादा महत्त्व रखता है। पर वे वर्तमान समय में जिस शिक्षा को प्राप्त कर रहे हैं उसमें वाङ्मय की लम्बी परंपरा होने के बावजूद भी कोई तो कमी है जिसकी वजह से शिक्षितों की संख्या बढ़ने के बावजूद भी समाज टूटकर निरंतर व्यक्ति अकेला होता जा रहा है। जहाँ वह कई तरह के विकारों का शिकार होता है। स्नायुजनित बीमारियों से ग्रसित होता है। फलस्वरूप जीवन को आनंद नहीं समझता, बल्कि जीवन को एक संघर्ष समझता है। जसिंता केरकेट्टा कहती हैं -

“गिलहरी, गिलहरी की तरह है।

तितली, तितली की तरह है।

सिर्फ आदमी, आदमी की तरह

हो जाने की कोशिश में घुट रहा है॥”<sup>35</sup>

आदिवासी शिक्षण प्रणाली में आधुनिक विद्यालयों की तरह अक्षरों का ज्ञान प्रदान नहीं किया जाता था। इसलिए आदिवासी मानते हैं कि उनके पूर्वज शिक्षित थे, भले ही निरक्षर थे। वर्तमान में देखें तो आज विभिन्न सामाजिक मूल्यों - सामूहिकता, सहभागिता, समानता, सहजीविता में बिखराव नजर आने लगे है। मानव केन्द्रित संस्कृति की जगह पर आत्मकेन्द्रित संस्कृति ने स्थान ले लिया है जो पहले आदिवासी समाज में उपस्थित नहीं था। इस संदर्भ में वंदना टेटे का कथन द्रष्टव्य है - “दूसरों की भाषा, दूसरों के द्वारा लिखे इतिहास द्वारा हमें अपनी भाषा-संस्कृति से दूर किया जा रहा है। हमारे इतिहास को विकृत तरीके से पेश किया गया। लिहाजा, हमें उनका सब कुछ श्रेष्ठ लगने लगा है और अपना हेय। हम शारीरिक गुलामी से उबरे किन्तु मानसिक गुलामी कर ही रहे हैं।”<sup>36</sup>

आदिवासी समाज एवं संस्कृति में आदर्श की प्रतिस्थापना नहीं रही है। किसी व्यक्ति को ‘आइडोलाइज’ कर उसके मार्ग का अनुसरण करने की परंपरा विद्यमान नहीं थी, क्योंकि समाज में व्यक्ति केन्द्र में न होकर पूरा समुदाय केन्द्र में होता है। धीरे-धीरे धारणाएं परिवर्तित हो रही हैं और आदर्श की प्रतिस्थापना हुई। स्त्रियों के लिए सीता ही आदर्श है और पुरुषों के लिए राम। फूलो, झानो, सिदो, कान्हू जिनके बारे में वे अपने पूर्वजों से सुनते आए हैं, का परिचित संसार धुंधलाता जा रहा है। स्त्रियों के संदर्भ में परिवर्तन की यह प्रक्रिया तीव्र गति से दिखाई देती है। आदिवासी स्त्रियों में स्वनिर्णय लेने की क्षमता में कमी आई है। अपने हित की चिंता न कर औरों की खुशियों का ध्यान रखना सर्वोपरि हो गया है जो सांस्कृतिक परिवर्तन की देन है। आदिवासी संस्कृति में स्त्री और पुरुष दोनों समान अधिकार रखते थे, किसी को किसी से कम आँकने की प्रवृत्ति नहीं थी। डॉ. रोज केरकेट्टा ने ‘स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति’ में एक कथा की चर्चा की है - “पति-पत्नी मिलकर तीन रोटियां बनाते हैं। पति दो खाना चाहता है, जिसके लिए तर्क देता है कि उसने चावल लाया है। यह कठिन काम था, जिसे उसने किया। स्त्री भी कहती है कि वह दो रोटि खाने की हकदार है, क्योंकि उसने लकड़ी ढूँढा, चावल पीसा और रोटि पकाई। काम उसने अधिक किए। यानी काम के आधार पर उसे बराबरी का

हक मिलना चाहिए।”<sup>37</sup> अपने हक के लिए बोलने की क्षमता आदिवासी स्त्रियों में स्वतः व्याप्त थी। एक मनुष्य के रूप में वह शीर्ष स्थान रखती हैं, स्त्री तो वह बाद में बनती है। औद्योगीकरण और विकास के फलस्वरूप बाहरी लोगों का हुजूम उमड़ पड़ा और आदिवासी समाज में भिन्न संस्कृति का प्रवेश हुआ। पुरुषवर्चस्ववादी मानसिकता की जड़ें इस समाज में जमने लगी और स्त्रियाँ हाशिये पर चली गईं। अब समाज में स्त्रियों का स्थान परिवर्तित हो गया है। प्रचुर प्राकृतिक संसाधन क्षेत्रों में स्त्रियों का शोषण दोगुनी मात्रा में किया गया। ज्यों ही आदिवासी समुदायों का पारंपरिक जीविका के स्रोत समाप्त कर दिये गए, स्त्रियों की स्थिति दयम दर्जे की हो गई। विकास से उत्पन्न विसंगतियों का प्रभाव आदिवासी स्त्रियों पर अधिक पड़ा। असुरक्षा का बोध बाहरी संस्कृति की देन है। स्त्रियों की परिवर्तित स्थिति के पीछे दूसरा प्रमुख कारण है जमीन पर एकल अधिकार। अंग्रेजों द्वारा जमीन का पट्टा प्रदान कर भूमि पर से सामूहिक अधिकार नष्ट कर दिये गए और जिस प्रकार जमीन संपत्ति के रूप में परिवर्तित हो गई उसी प्रकार स्त्रियाँ भी पुरुषों की संपत्ति बनकर रह गईं। परिणामतः स्त्रियों पर कंट्रोल करना शुरू हुआ। इस संदर्भ में डॉ. रजनी मुर्मू का कथन द्रष्टव्य है - “दूसरा कारण है हमारा बाहरी समुदाय के संपर्क में आना। जहां हमने देखा कि स्त्रियों को घर में रखना, बाहर न घूमने देना, स्त्री योनि की शुचिता की रखवाली करना, पर-पुरुष गमन के कारण गंभीर दंड देना, पर्दे में रखना आदि को आदर्श स्थिति माना जाने लगा या ‘सभ्य’ होना माना जाने लगा।”<sup>38</sup> इसी प्रकार वंदना टेटे का कथन द्रष्टव्य है - “भारतीय शिक्षा प्रणाली और राजनीतिक वर्चस्व को बनाए रखने के लिए हुए ‘संस्कृतिकरण’ के कारण अब आदिवासी समाज को बाहरी और भीतरी दोनों ही स्तरों पर जूझना पड़ रहा है। ‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद’ का शिकार बन चुके आदिवासियों का एक उल्लेखनीय हिस्सा बाहरी अथवा सत्ता विचारों और जीवनमूल्यों की चपेट में है।”<sup>39</sup> अपनी संस्कृति के प्रति हीन दृष्टिकोण रखते हुए अन्य संस्कृति के प्रति बढ़ते आकर्षण और अंधानुकरण की प्रवृत्ति ने स्त्रियों को अति पिछड़ा बना दिया है। समानता, स्वतंत्रता और बंधुता पर आधारित आदिवासी समाज का मूल स्वरूप धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है जिसका परिणाम स्त्रियों के साथ हो रहे दुर्व्यवहार में देखा जा सकता है। स्त्रियों के प्रति हिंसा के जो मामले

देखे जा रहे हैं वह 'मिसोजिनि' अर्थात् स्त्रीद्वेष का ही एक रूप है। उसे मूर्ख और कमजोर समझकर विभिन्न तरीके से प्रताड़ित किया जाता है। डॉ. रजनी मुर्मू ने कहा है - "अपसंस्कृति के कारण महिलाओं के प्रति उग्रता लगातार बढ़ती जा रही है। उदाहरण के लिए पहले अधिकतर जगहों पर किसी लड़की का गैर आदिवासी के साथ शादी करने पर 'ज़ोम जती' करके मामला सलटा दिया जाता था। इसके विपरीत आजकल वैसी लड़की का बहिष्कार तो किया ही जाता है साथ ही शारीरिक हिंसा भी किया जाता है। ऊपर से सोशल मीडिया ट्रोलिंग की भी परंपरा बढ़ती जा रही है जहाँ लड़कियों को हिंसक अपशब्दों से नवाजा जाता है।"<sup>40</sup>

डॉ. रामदयाल मुंडा की प्रसिद्ध उक्ति 'जे नाची, से बाँची' सूक्ष्म, किन्तु गहन अर्थ लिए हुए है। इसके शाब्दिक अर्थ पर जाएंगे तो देखेंगे कि इसका अर्थ है जो नाचेगा, वह बचेगा। लेकिन इससे वास्तविक अर्थ निकलकर नहीं आता है। डॉ. मुंडा के इस उक्ति द्वारा कहने का तात्पर्य है कि नाचने, गाने, बजाने से ही आदिवासी सामूहिक संस्कृति जीवित रहेगी, नृत्य, गीत, संगीत आदिवासी संस्कृति का अभिन्न अंग है। आदिवासी संस्कृति के अन्तर्गत गीतों में ढोल, माँदर, बनाम, बाँसुरी आदि पारंपरिक वाद्ययंत्रों का उपयोग किया जाता है। माँदर के साथ आदिवासी संस्कृति का गहरा नाता रहा है। माँदर की धुन पर पैर स्वतः ताल देने लगते हैं। प्रसिद्ध आदिवासी लेखक महादेव टोप्पो ने बताया है कि "एक उरांव लोकगीत में माँदर की महत्ता का वर्णन करते भाव व्यक्त किया गया है कि माँदर का फुट जाना, अपनी प्रियतमा की मृत्यु होने जैसे असह्य दुःख के समान है।"<sup>41</sup> आदिवासी परंपरा का स्थान शहरी संस्कृति ने ले लिया है। समाज में माँदर की महत्ता कम होती जा रही है। शहर में रहने वाले परिवार अपने बच्चों को पारंपरिक वाद्य यंत्रों की महत्ता एवं संस्कृति से जुड़ाव से परिचित करा पाने में असक्षम हैं। इसका सबसे बड़ा कारण है समयाभाव। समयाभाव के कारण वे अपनी परंपरा से कटते चले जा रहे हैं। फलस्वरूप सीडी, डीवीडी तथा यूएसबी की संस्कृति विकसित हो रही है जिसका बड़ा प्रभाव माँदर पर पड़ा है। आधुनिक गीतों पर थिरकते देख शहरी अभिभावक प्रसन्नता से भाव-विभोर हो जाते हैं। वे उस अनुभव से वंचित हो जा रहे हैं जो सदियों से

समाज को उत्साह से सराबोर कर देता था। “उन्होंने उधार के गीतों एवं धुनों पर किसी तरह नाचना और थिरकना सीख लिया है। पारम्परिक गीतों में गायक-लीडर द्वारा एक-एक पंक्ति गाना और साथी नर्तक-गायकों द्वारा गीत की पंक्तियों को दुहराते हुए धीरे-धीरे माँदर, ढोल नगाड़ों के ताल पर सामूहिक रूप से झूमते हुए, कदम मिलाते, बीच-बीच में चुहल भरे जोशीले विचित्र किलकारियों को सुन सकने का अनुभव उसे नहीं है।”<sup>42</sup> आधुनिकता के मुलम्मे से पुरखौती गीतों की महत्ता घटती जा रही है या यों कहें लुप्त होती जा रही है। तड़क-भड़क गीतों पर नाचने का आनंद तो उठाया जा रहा है, किन्तु वह केवल नाचने तक सीमित है क्योंकि इन गीतों के माध्यम से गाने की तुलना में नाचने का आनंद अधिक है। जहाँ सभी मशीन की भाँति मूक होकर नृत्य करते दिखाई देते हैं। मशीन बड़ी तीव्र गति से मनुष्य के मन-मष्तिष्क पर हावी होती है जिसके फलस्वरूप मनुष्य मशीनी विचारों का उत्पादन करता है। अब हर पर्व-त्योहारों में श्रव्य माध्यम के रूप में प्रचलित लाउडस्पीकर के माध्यम से आधुनिक गीतों को बजाने का चलन ज़ोरों पर है। पुरखा गीतों को गाने की परंपरा पर कुठाराघात हुआ जो कि चिन्ता का विषय है। करमा, सरहुल अथवा विभिन्न जतरा में माँदर, ढोल तथा नगाड़ों की रोमांचकारी ध्वनि पर कदम से कदम मिलाकर नाचना और माँदर के बदलते सुर-तालों के साथ पैरों का स्टेप बदलना अत्यंत हृदयस्पर्शी है। आदिवासी गीतों एवं नृत्यों में प्रमुख रूप से सामूहिकता एवं एकता का परिचय मिलता है जहाँ किसी प्रकार का कोई अलगाव नहीं दिखाई देता है। इन गीतों एवं नृत्यों को गँवई एवं पिछड़ा कहकर इसकी उपेक्षा की गई है। महादेव टोप्पो बदलती संस्कृति पर अपना अनुभव का साझा करते हुए कहते हैं - “कुछ महीने पूर्व एक घरेलू उत्सव में भाग लेने अपने गाँव गया। वर्षों बाद गाँव आया था और किसी उत्सवनुमा कार्यक्रम में भाग ले रहा था। रात्रि भोजन के बाद गाँव के युवाओं से पूछा क्या कुछ नाचना गाना नहीं होगा? कुछ देर बाद देखा वे डफलीनुमा एवं ड्रमनुमा कुछ वाद्य सामग्री ले आए और विचित्र धुनों में उसे बजाने लगे साथ ही वे जिस तरह का नृत्य वे कर रहे थे वे अनजाने थे। उनके साथ पारम्परिक वाद्य यंत्र माँदर एवं नगाड़े आदि नहीं थे। लगा अपने गाँव से हजारों मील कहीं और चल गया हूँ। इतना परिवर्तन? सोच में पड़ गया।”<sup>43</sup> वस्तुतः आदिवासी

समुदाय में गीत-संगीत की अवधारणा गैर आदिवासी समाज से भिन्न है जहाँ युवक-युवतियाँ एक साथ नृत्य करते हैं। इसे मुख्यधारा समाज अश्लीलता की कोटि में रखकर देखता है। खतरे की संभावना तब और अधिक बढ़ जाती है जब आदिवासी पारंपरिक गीत एवं नृत्य की नैसर्गिकता और विशुद्धता से स्वयं एक आदिवासी अपरिचित रहता है। आधुनिकता के तीव्र वेग के कारण वह दिन दूर नहीं जब अगले कुछ साल पश्चात् सामुदायिकता से ओतप्रोत आदिवासी समाज का नृत्य-संगीत लुप्त प्रायः हो जाएगा। कुछ ऐसे बुद्धिजीवियों ने आदिवासी संस्कृति पर मंडरा रहे इस संकट को भली-भांति समझा और इसे बचाने के लिए प्रयासरत हैं। हाल ही में जोभीपाट तथा सखुआपानी गांवों के सम्मिलित सहयोग से असुर अखड़ा रेडियो की शुरुआत की गई है। यूनेस्को के अनुसार असुर भाषा के अस्तित्व पर खतरा मँडराता नजर आ रहा है जिसे बचाने का प्रयास किया जा रहा है। असुर अखड़ा रेडियो का प्रयोजन असुर आदिवासी समुदाय की भाषा और संस्कृति को संरक्षित करना है। रेडियो के माध्यम से असुर आदिवासी समुदाय को बाहर की खबरें पता चलती है तथा बाहर की दुनिया असुर लोगों के अनुभवों से परिचित होती है। वंदना टेटे, सुषमा असुर, मेलान असुर तथा उनके सहयोगियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है जो असुर समुदाय की संस्कृति और भाषा को बचाने के लिए प्रयासरत हैं।

आदिवासी समाज में विवाह के समय वर पक्ष से कुछ मूल्य कन्या पक्ष को देना होता है जिसे वधूमूल्य कहते हैं। हो आदिवासी समुदाय में इसे गोनॉग कहते हैं। यह प्रथा झारखंड के लगभग सभी आदिवासी समूह में देखा जा सकता है। वधूमूल्य के रूप में कुछ रुपये अथवा अन्न तथा वस्तु देने होते हैं जो नाममात्र का होता था। लेकिन आज यह मूल्य कुछ रुपये से लेकर हजारों-लाखों तक पहुँच गया है जिसके कारण यह प्रथा विकृत हो चुकी है। लड़की के माता-पिता गोनॉग के नाम पर अधिक मूल्य की मांग करते हैं जिसे लड़के के परिवार वाले देने में असमर्थ होते हैं। फलस्वरूप कई युवक-युवतियों का विवाह नहीं हो पाता है और वे इस विकृति के शिकार हो रहे हैं। आदिवासी समाज में इसे एक बड़ा सांस्कृतिक परिवर्तन के रूप में देखा जा सकता है। गैर आदिवासी समाज में दहेज लेन-देन की परंपरा वर्षों से रही है। इनके

संपर्क में आने के कारण गोनॉग को दहेज के रूप में देखा जाने लगा है। डॉ. वीर भारत तलवार के शब्दों में - “एक ही प्रथा जो कभी समाज की संस्कृति और स्वास्थ्य के लिए अच्छी चीज होती है, वही दूसरे समय में विकृत होकर समाज की संस्कृति और स्वास्थ्य को खा जाने वाली एक बीमारी के रूप में बदल जाती है। गोनॉग प्रथा आज एक ऐसी ही खतरनाक बीमारी बन गयी है जो समाज के स्वास्थ्य को चौपट कर रही है। गोनॉग प्रथा का वर्तमान रूप हो संस्कृति का शुद्ध रूप नहीं है, यह उसका विकृत रूप है।”<sup>44</sup>

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आदिवासी संस्कृति केवल बाहरी रूप से ही नहीं, आंतरिक रूप से भी प्रभावित हो रही है। व्यक्ति और समाज की अस्मिता को बनाए रखने के लिए संस्कृति में परिवर्तन लाये जा सकते हैं, किन्तु मानव समुदाय का अस्तित्व खतरे में पड़ जाना एक थोपी गई प्रक्रिया है जिसने मनुष्य के मन-मस्तिष्क पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया है। इस सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप सकारात्मक परिवर्तन यह हुआ कि उन्होंने शिक्षा प्राप्त की और नकारात्मक परिवर्तन के रूप में मातृभाषा पर अन्य भाषा का वर्चस्व स्थापित होता नजर आता है। आधुनिकता और विकास के प्रभाव के कारण बड़ी-बड़ी नदियाँ जलविहीन हो चुकी हैं, इसी आधुनिक संस्कृति ने मनुष्य को संवेदनहीन बना दिया है। कई बुद्धिजीवियों ने इस उभरते संकट का आभास किया है और अपनी पुरखा परंपरा को जीवित रखने के लिए कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। विभिन्न संगोष्ठियों और सभाओं के माध्यम से अपनी संस्कृति को बचाने के लिए प्रयासरत हैं।

## संदर्भ:

- 
- <sup>1</sup> सिंह, राकेश कुमार, जो इतिहास में नहीं है, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण: 2005, पृष्ठ: 92
- <sup>2</sup> वही, पृष्ठ: 96
- <sup>3</sup> वही, पृष्ठ: 94-95
- <sup>4</sup> वही, पृष्ठ: 95
- <sup>5</sup> <https://youtu.be/RjiN5FY11bY>
- <sup>6</sup> <https://hi.wikipedia.org/wiki/पत्थलगड़ी>
- <sup>7</sup> <https://saathijohaar.com/2019/02/03/4.html>
- <sup>8</sup> रणेन्द्र, गायब होता देश, पैंगुइन बुक्स, हरियाणा, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: 93
- <sup>9</sup> वही, पृष्ठ: 202
- <sup>10</sup> वही, पृष्ठ: 200
- <sup>11</sup> वही, पृष्ठ: 206
- <sup>12</sup> <https://facebook.com/108813620821971/posts/133202681716398/>
- <sup>13</sup> सिंह, राकेश कुमार, जो इतिहास में नहीं है, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण: 2005, पृष्ठ: 28
- <sup>14</sup> वही, पृष्ठ: 30
- <sup>15</sup> वही, पृष्ठ: 64
- <sup>16</sup> तलवार, वीर भारत, झारखंड के आदिवासियों के बीच एक एक्टिविस्ट के नोट्स, भारतीय ज्ञानपीठ, दूसरा संस्करण: 2012, पृष्ठ: 74
- <sup>17</sup> केरकेट्टा, रोज, स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति, नोशन प्रेस, प्रथम संस्करण: 2021, पृष्ठ: 15
- <sup>18</sup> हेम्ब्रम, डॉ. रतन, संताली लोकगीतों में साहित्य और संस्कृति, माधा प्रकाशन, जमशेदपुर, संस्करण: 2005, पृष्ठ: 203
- <sup>19</sup> <https://adivasiyat.in/apr-2022-ml-20/>
- <sup>20</sup> लुगुन, अनुज (संपा.), आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 2018, पृष्ठ: 17



- 
- <sup>21</sup> तोपनो, हेरॉल्ड एस, अश्विनी कुमार पंकज (संपा.), विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 129
- <sup>22</sup> सिंह, राकेश कुमार, जो इतिहास में नहीं है, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण: 2005, पृष्ठ: 82
- <sup>23</sup> मीणा, गंगा सहाय (संपा), आदिवासी साहित्य, अंक: 6, अप्रैल-जून 2016, पृष्ठ: 23
- <sup>24</sup> अग्रवाल, केदारनाथ, फूल नहीं, रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ: 107
- <sup>25</sup> तोपनो, हेरॉल्ड एस, अश्विनी कुमार पंकज (संपा.), विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 128
- <sup>26</sup> सिन्हा, अनुज कुमार (संपा.), झारखंड के आदिवासी पहचान का संकट, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2019, पृष्ठ: 61
- <sup>27</sup> वही, पृष्ठ: 61
- <sup>28</sup> <https://indiantribalheritage.org/?p=21797>
- <sup>29</sup> <https://youtu.be/KJu9ZtnGGGE>
- <sup>30</sup> सिन्हा, अनुज कुमार (संपा.), झारखंड के आदिवासी पहचान का संकट, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2019, पृष्ठ: 64
- <sup>31</sup> वही, पृष्ठ: 65-66
- <sup>32</sup> वही, पृष्ठ: 67
- <sup>33</sup> तलवार, डॉ. वीर भारत, झारखंड के आदिवासियों के बीच एक एक्टीविस्ट के नोट्स, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2012, पृष्ठ: 178
- <sup>34</sup> थ्योंगों, न्गुगी वा, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय एवं संशोधित संस्करण: 2010, पृष्ठ: 78
- <sup>35</sup> केरकेट्टा, जसिन्ता, जड़ों की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण: 2018, पृष्ठ: 136
- <sup>36</sup> टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, प्रथम संस्करण: 2013, पृष्ठ: 60-61
- <sup>37</sup> केरकेट्टा, रोज, स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति, नोशन प्रेस, प्रथम संस्करण: 2021, पृष्ठ: 95
- <sup>38</sup> <http://saathijohaar.com/2020/03/30/2.html>

---

<sup>39</sup> टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेटा फाउंडेशन, राँची, प्रथम संस्करण:

2013, पृष्ठ: 75

<sup>40</sup> <http://saathijohaar.com/2020/04/05/3.html>

<sup>41</sup> टोप्पो, महादेव, सभ्यों के बीच आदिवासी, अनुजा बुक्स, दिल्ली, प्रथम पुनर्मुद्रण: 2020, पृष्ठ: 118

<sup>42</sup> वही, पृष्ठ: 118

<sup>43</sup> वही, पृष्ठ: 125

<sup>44</sup> तलवार, डॉ. वीर भारत, झारखंड के आदिवासियों के बीच एक एक्टीविस्ट के नोट्स, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2012, पृष्ठ: 232